प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

व्याकरण

डॉ. वी. कृष्णास्वामी आयंगार

प्रकाशक प्रभात प्रकाशन २०५ चावडी बाजार दिल्ली ११०००६ / सर्वाधिकार सुरक्षित / सस्करण प्रथम, १९८३ / मुद्रक रूपाभ प्रिंटस दिल्ली ११००३२ / मूल्य चालीस रुपय

PĀNINIYA VYĀKARAN KI BHŪMIKĀ
by Dr V Krishna Swamy Iyengar

Rs 40 00

दो शब्द

ससार के व्याकरणो मे पाणिनि का स्थान सर्वोच्च है। भारत की समृद्ध भाषा वैज्ञानिक परपरा के अमूल्य रत्न हैं महर्षि पाणिनि। उन्होने आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले 'अष्टाध्यायी' के नाम से एक अत्युत्तम व्याकरण की रचना की। अष्टाध्यायी मे लगभग चार हजार सूत्र हैं। प्रत्येक सूत्र व्यापक अन्वेषणा और अनुसधान का फल है। ससार की किसी भाषा मे आज तक किसी विद्वान् ने ऐसा वैज्ञानिक व्याकरण नही लिखा। आज के सभी भाषाविज्ञानी पाणिनि की असाधारण प्रतिभा की प्रशसा करते हैं और उनके महत्त्वपूर्ण योगदान को पहचानते हैं।

पाणिनि के व्याकरण पर कई विद्वानो ने आलोचनात्मक ढग से विचार किया है। उनमे कात्यायन और पतजलि के नाम प्रमुख हैं। सूत्रकार पाणिनि के समान ही इन दोनो व्याख्याकारो का भी महत्त्व है। इन तीनो का 'सस्कृत व्याकरण का मुनित्रय' कहा जाता है। सिद्धात कौमदी के लेखक भट्टोजिदीक्षित ने 'मुनित्रय नमस्कृत्य तदुक्ती परिभाव्य च' कहकर इन्ही मुनियो का स्मरण किया है।

पश्चिम के भाषाविज्ञानी आज भी पाणिनि के अध्ययन मे लगे हुए हैं। हम भारतीयो का कर्त्तव्य है कि विशेष रूप से पाणिनि के व्याकरण का सागोपाग अध्ययन करें। उनकी विश्लेषण पद्धति का रहस्य समझ सकें तो हम अन्य भाषाओ के—मुख्य रूप से सभी भारतीय भाषाओ के—वैज्ञानिक व्याकरण तैयार करने म सफल हो सकेंगे।

इस पुस्तक म पाणिनीय व्याकरण के सबध म कुछ ऐसी बातो का विवेचन किया गया है जिन पर हिंदी म बहुत कम लिखा गया है। लेखक जानता है कि बहुत गभीर और दुरूह है। इसलिए उसका यह दावा नही है कि यहा विषय के साथ पूर्ण न्याय किया गया है। लेखक का यह प्रयास तभी सफल माना जायगा जब अन्य विद्वानो को इससे प्रेरणा मिलेगी और वे इस विषय पर और भी अच्छे ग्रथ हिंदी मे लिखेंगे।

लेखक ने इतना ध्यान अवश्य रखा है कि कोई बात बिना प्रमाण के नहीं कही जाय। संस्कृत के विख्यात टीकाकार मल्लिनाथ के शब्दों में, "नामूलं लिख्यते किंचित, नानपेक्षितमुच्यते।"

वि० कृष्णस्वामी अय्यंगार

पाणिनीय व्याकरण की भूमिका

क्रम



पाणिनीय व्याकरण की भूमिका

१ भाषा विज्ञान भाषा का विवेचन करने वाला शास्त्र है। इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है 'भाषा'। अत सबसे पहले भाषा के स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है।

२ मानव-जीवन मे भाषा का महत्त्व प्रत्यक्ष सिद्ध है। हम सब प्रतिदिन भाषा का प्रयोग करते हैं। भाषा हमारे जीवन का एक अविभाज्य अग है। हम कल्पना तक नही कर सकते कि भाषा के बिना हमारे जीवन का स्वरूप कैसा होता। मानव के लिए भाषा एक अमूल्य वरदान है। मानव ने हजारो वर्षों की साधना और तपस्या के फलस्वरूप आज ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र म अद्भुत प्रगति की है। कितनी विद्याएँ विकसित हुई हैं और निरतर विकास करती जा रही हैं। न्याय, मीमासा आदि कितने प्राचीन शास्त्र है। आधुनिक काल म कितने नवीन शास्त्रो का उदय और विकास हो रहा है—यह सब भाषा का ही तो विकास है। सभ्यता और सस्कृति की आधारशिला भाषा ही है।

२ १ सक्षेप म कहा जाए तो भाषा के सहारे से ही मानव पशुत्व के दर्जे से ऊपर उठकर मानवता की सीढी पर चढने लायक बन पाया है। मानव की समस्त प्रगति का मूल आधार भाषा ही है। यदि भाषा न होती तो मानव समाज किसी प्रकार की उन्नति करने म असमर्थ ही रहता। भाषा के कारण ही मानव ज्ञान-विज्ञान की बातो का सग्रह सकलन और सरक्षण कर सका। पूर्व-सचित ज्ञान को ग्रथो के रूप म सुरक्षित कर सका। आज ससार की विविध भाषाओ म कितने ग्रथ उपलब्ध होते हैं! यदि ये ग्रथ आज के विद्यार्थी के लिए प्राप्य नही होते तो हम किस क्षेत्र म क्या उन्नति कर सकते? करोडो ग्रथो का यह साहित्य कितना अमूल्य है! और यह ग्रथराशि भाषा का ही तो लिखित, स्थायी और वास्तव मे सार्थक रूप है। भाषा के माध्यम से ही हमारे पूर्वज विचार विमर्श कर सके, खडन मडन की प्रणाली को अपनाकर किसी भी विषय का गभीर विवेचन कर सके। भाषा के बिना चिंतन की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। अतएव यह कथन पूर्णतया सत्य है कि सभी शास्त्र भाषा के द्वारा ही विकसित किये गए हैं।

३ मानव जीवन म भाषा के ऐसे आत्यतिक महत्त्व को वेदकाल के ऋषियो

ने पहचान लिया था। ऋग्वेद के एक मंत्र मे भाषा की महत्ता पर खूब प्रकाश डाला गया है। पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य म भूमिका म ही इस मंत्र को उद्धृत करके भाषा के सदभ म इसकी व्याख्या की गयी है। मंत्र के शब्द ये हैं

चत्वारि शृगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

(ऋग्वेद, ४ ५८ ३)

३ १ इस मंत्र का शाब्दिक (Literal) अर्थ यही है कि एक वृषभ (बैल) ऊँचे स्वर मे कुछ कह रहा है। यह वृषभ विलक्षण प्रकार का है। इसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। इसे तीन प्रकार से अथवा तीन स्थानो म बाँधा गया है। यह कह रहा है कि महादेव मर्त्यों मे अवतरित हुए है। इस स्थूल अर्थ को देखने से ज्ञात होता है कि यह एक प्रहेलिका है। किसी निगूढ अर्थ की व्यंजना के लिए ऐसी विचित्र उक्ति का सहारा लिया गया है।

३ २ निरुक्तकार यास्क ने इस मंत्र की व्याख्या याज्ञिक परपरा क अनुसार की है। भाष्यकार पतंजलि ने व्याकरण परपरा के अनुसार इस मंत्र की भाषा-परक व्याख्या की है। दोनो ही आचार्य प्रामाणिक है। हम पतंजलि के आधार पर इस मंत्र को भाषा के स्वरूप और महत्त्व का प्रतिपादक प्राचीनतम प्रमाण मानते हैं।

३ ३ यहाँ भाषा को ही 'वृषभ' कहा गया है। भाषा उपमेय है और वृषभ उपमान है। आलकारिको का कहना है कि जहाँ उपमान और उपमेय का पृथक् उल्लेख होता है तथा उनमे भेदगर्भ सादृश्य का विधान किया जाता है, वहाँ 'उपमा' अलकार होता है। "भाषा वृषभ के समान है"—इस वाक्य म उपमा का प्रयोग हुआ है। किंतु जहाँ उपमान तथा उपमेय म अभेद का आरोप किया जाता है वहाँ रूपक अलकार माना जाता है।

"तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो।"

इस लक्षण से सिद्ध है कि रूपक म भी उपमान तथा उपमेय का पार्थक्य से निर्देश अपेक्षित है। लेकिन कही कही उपमेय का निर्देश ही नही होता। केवल उपमान का ही निर्देश किया जाता है। किंतु साधर्म्य के बल पर उपमान के द्वारा उपमेय की प्रतीति होती है। उपमेय को छिपाना 'निगरण' कहलाता है। इसका उदाहरण है, "वापी कापि स्फुरति गगन।" यहाँ गगन नायिका के कृश मध्य का उपमान है। वापी उसकी नाभि का उपमान है। इस तरह के आरोप को आलकारिक परिभाषा मे 'अध्यवसान' कहते हैं। इस तरह की उक्ति म रूपक

तिशयोक्ति अलकार निहित रहता है। कुवलयानद मे कहा गया है 'रूपकातिशयोक्ति स्यात निगीर्याध्यवसानत ।' उपर्युक्त मत्र मे उपमेय भाषा का निर्देशन करके उपमान वषभ का ही ग्रहण करने के कारण इसे रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण मान सकते है। 'वषभ' को भाषा का प्रतीक या सकेत मानना चाहिए।

३ ४ भाषा और वृषभ की तुलना का क्या आधार हो सकता है ? 'भाषा' शब्द स्त्रीलिंग है। 'वृषभ' शब्द तो पुलिंग है। इन दोनो मे कोई समान धर्म नही है तो औपम्य की निष्पत्ति कैसे होगी ? इस शका के निवारण के लिए भाष्यकार ने 'वषभ' शब्द की व्युत्पत्ति बताकर उसी के आधार पर समानता की स्थापना की। वृष' धातु से 'वषभ शब्द बना है। 'वर्षति इति वषभ "—वर्षा करनेवाले को वषभ कहते हैं। बैल जहा खडा है वही मूत्र की वर्षा करता है, इसी से उसको 'वषभ' कहते हैं। वैसे यह शब्द योगरूढ है। रूढि के कारण इस शब्द का प्रयोग बैल तक सीमित है। भाषा के सदर्भ मे इस शब्द के योगार्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। भाषा भी वर्षा करती है। अब वर्षा का अर्थ लक्षणा के बल से कुछ विस्तृत हो जाता है। वर्षा का इस प्रसग मे अर्थ है मानव की इच्छा की पूर्ति करना। वक्ता अपनी इच्छा को जब भाषा के माध्यम से प्रकट करता है तभी तो उसकी पूर्ति का प्रयास किया जा सकता है। कुछ इच्छाए इगितो, सकेतो या हस्तचालन आदि चेष्टाओ मे प्रकट की जा सकती हैं किंतु ये सकेत सीमित हैं। इनके द्वारा हर प्रकार की इच्छा का असदिग्ध रूप मे प्रकट करना सभव नही है। कई भाव या विचार ऐसे सूक्ष्म और जटिल होते हैं कि भाषा के सिवाय उनके प्रकाशन का कोई दूसरा साधन हो ही नही सकता। भाषा तो हमारे हर प्रकार के भाव, विचार या इच्छा को व्यक्त कर सकती है। ऐसा प्रभावशाली तथा उपयोगी साधन और कुछ नही है। इसीलिए, 'सर्वान् कामान् वर्षति इति वृषभ' की व्युत्पत्ति को मानकर भाषा को वृषभ कहते हैं और लौकिक वषभ (बैल) के साथ उसकी तुलना भी करते हैं। 'भाषा और वषभ' का लिंगभेद इस रूपकातिशयोक्ति अलकार की निष्पत्ति मे बाधक नही हो सकता।

३ ५ 'चत्वारि शृगा' का तात्पर्य है कि चार शब्दभेद होते हैं, जो भाषारूपी वषभ के चार शृग माने जाते हैं। ये शब्दभेद हैं—नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात। नाम' के अतर्गत सज्ञा सर्वनाम तथा विशेषण (Noun, Pronoun and Adjective) का समावेश किया जाता है। क्रिया को पुराने वैयाकरण 'आख्यात कहते थे। अव्यय का ही दूसरा नाम निपात है। 'उपसर्ग' एक छोटा वर्ग है जिसके सदस्य परिगणित हैं। इनको अलग वर्ग के रूप मे मान्यता देने का कारण यही है कि ये स्वय किसी निश्चित अर्थ के वाचक नही होते, किंतु जिस क्रिया के साथ प्रयुक्त होते हैं, उसके अर्थ मे कुछ परिवर्तन-परिवर्धन कर देते है। इन शब्दभेदो

की चर्चा आगे यथास्थान विस्तार से की जाएगी। यहा इतना ही कहना पर्याप्त है कि पाश्चात्य परम्परा म जो आठ शब्दभेद (Parts of Speech) स्वीकृत हैं, उनका अन्तर्भाव उपर्युक्त चार वर्गो म हो जाता ह। अंग्रेजी व्याकरण क Noun, Pronoun तथा Adjective तो 'नाम' के वग मे आते हैं। Verb आख्यात का पर्याय है। Preposition का काम सस्कृत मे विभक्ति प्रत्यय करते ह। 'अधि' आदि कुछ उपसग तथा निपात भी विभक्त्यथ का प्रत्यायन करते ह। अत Preposition के लिए सस्कृत भाषा मे एक स्वतन्त्र या अतिरिक्त वग की कल्पना आवश्यक नही है। Adverb, Conjunction और Interjection निपातो के ही अवातर भेद है। अंग्रेजी म उपसग के समान कोई वग नही है। क्रिया क विशेषाथ के द्योतक उपसग क लिए अंग्रेजी मे एक नया शब्द प्रयुक्त होन लगा है—Pre verb। इस प्रकार हम दखत है कि पाश्चात्य परपरा के आठ शब्दभेद वैदिक परम्परा के चार शब्दभेदो म ही अतर्भूत ह।

३ ६ चार शब्दभेदो की एक और व्याख्या भी की गयी है। 'वाक' के चार भेद होते है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। एक अन्य ऋचा मे कहा गया है—"चत्वारि वाक परिमिता पदानि।" यह व्याख्या भी परम्परानुगत ही है। परा आदि की चर्चा भी आगे की जाएगी। पतजलि न इस मन्त्र की व्याख्या म लिखा—"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसगनिपाताश्च।" उनके वाक्य म अंतिम पद चकार का क्या अथ है? चकार तो समुच्चयाथक के रूप म प्रसिद्ध है। लेकिन इस वाक्य म वह किसका, किसके साथ समुच्चय कर रहा है? 'नामाख्यातोपसगनिपाता'—यह एक चतुष्पद द्वद्व है। इस द्वद्व से अभिहित चारो प्रकार के शब्दो का अन्य किसी के साथ समुच्चय चकार से प्रतीत होता है। अन्यथा यह चकार प्रकृत सदभ मे निरथक लगता है। अत अर्वाचीन युग के महान् वैयाकरण नागेश भट्ट न भाष्यकार के उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि परा आदि वाणी के चार भेद भी यहाँ विवक्षित हैं। उन्ही का समुच्चय बताने क लिए भाष्य म चकार प्रयुक्त है।

३ ७ त्रयो अस्य पादा। वैदिक भाषा म पूवरूप सधि से रहित प्रयोग भी खूब पाये जाते हैं। 'त्रयो अस्य' ऐसा ही एक उदाहरण है। इस वृषभ के तीन पाद होते हैं। ये पाद हैं काल के तीन भेद। भूत, भविष्यत् और वतमान को ही भाषारूपी वृषभ के तीन पाद कहा गया है।

३ ८ द्वे शीर्षे। इस वृषभ क दो सिर है। भाष्यकार ने शीष का अथ प्रधान बताया है। भाषा के दो प्रधान या मुख्य स्वरूप है। एक स्वरूप नित्य है, उसकी उत्पत्ति विकार या विनाश की कल्पना नही की जा सकती। वह शब्दब्रह्म है, जो अनादि निधन है। वैयाकरण स्फोट' को स्वीकार करते हैं। स्फोट स ही अथ का भान होता है—'स्फुटति अथ यस्मात् इति स्फोट।' स्फोट नित्य होता है। भाषा

का दूसरा रूप अनित्य है। यह ध्वन्यात्मक रूप है। ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। हम जब ध्वनियों का उच्चारण करते हैं तब उनकी उत्पत्ति मानी जाती है। उच्चारण के तुरत बाद ध्वनियों का विनाश हो जाता है। उत्पत्ति और विनाश के बीच में ध्वनियों की क्षणिक सत्ता प्रत्यक्ष है। अतः भाषा के इस ध्वन्यात्मक रूप को अनित्य कहना प्रामाणिक है। स्फोट तथा ध्वनि भाषा के दो रूप हैं। इन्हीं को वृषभ के दो सिर कहा गया।

३.९ सप्त हस्तासो अस्य। 'हस्तासः' वैदिक रूप है। यह 'हस्त' शब्द का प्रथमा बहुवचन है। इस वृषभ के सात हाथ होते हैं। सात विभक्तियों को ही हाथ के रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृत भाषा में प्रथमा से लेकर सप्तमी तक सात विभक्तियाँ होती हैं। प्रत्येक विभक्ति में तीन वचन होते हैं। अतः विभक्ति-प्रत्ययों की संख्या इक्कीस है। किंतु विभक्तियाँ तो सात ही मानी जाती हैं। कारक छह हैं। किंतु कारक और विभक्ति में मौलिक अंतर है। सप्त हस्तासः' में इसलिए विभक्तियों का ही उल्लेख मानना उचित है।

३.१० त्रिधा बद्ध। पतंजलि ने इसकी व्याख्या में लिखा कि भाषारूपी वृषभ तीन स्थानों में बाँधा गया है। यह ध्वनियों के उच्चारण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। जब हम शब्द का प्रयोग करते हैं, किसी विचार की अभिव्यक्ति के लिए वाक्य का उच्चारण करते हैं, तब वास्तव में हम क्या करते हैं ? सबसे पहले हमारे मन में किसी बात को व्यक्त करने की इच्छा पैदा होती है। इस प्रक्रिया को 'पाणिनीय शिक्षा' में निम्नांकित शब्दों में स्पष्ट किया गया है

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्
मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति
स प्रेरयति मारुतम्॥

इसका अर्थ है कि आत्मा अपनी बुद्धि का प्रयोग करके वक्तव्य या विवक्षित अर्थों का संकलन करता है। हम निर्णय करते हैं कि हम क्या कहना चाहिए। यह हमारा कथ्य—विषयवस्तु—ही अर्थ है। तब आत्मा मन को बताता है कि इस अर्थ का शब्द के माध्यम से प्रकाशन किया जाय। आत्मा की प्रेरणा से मन सक्रिय होता है जो वह हमारे शरीर के भीतर रहने वाली अग्नि को प्रेरित करता है। 'अग्नि' यहाँ तेज अथवा शक्ति के लिए प्रयुक्त है। इस अग्नि से प्रेरित होकर शरीर के भीतर की वायु उत्क्षेपित होती है। इसी वायु से उच्चारण की क्रिया संपन्न होती है। वायु का प्रथम उद्गम स्थान उर है। वहाँ से ऊपर चलकर वायु कंठ में प्रवेश करती है। अतः कंठ द्वितीय स्थान है। कंठ के ऊपर का जो भाग है और जिसमें तालु आदि विभिन्न उच्चारण-स्थान बने हुए हैं, उसे हम 'शिरस्'

कहते हैं। इसी को 'मूर्धा' का नाम भी दिया जाता है। यह तीसरा स्थान है। इन तीनों स्थानों में वायु की गति से ध्वनियों का उच्चारण होता है। 'त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कंठे शिरसि।' भाष्यकार इन शब्दों में उच्चारण की प्रक्रिया को समझाते हैं।

३.११ यह वृषभ उच्च स्वर से घोषणा करता है (रोरवीति) कि महान् देव मर्त्यों में अवतरित हुए। महान् देव का अर्थ है परमात्मा। वैयाकरणों की दृष्टि में शब्दब्रह्म ही परतत्त्व है। हम तो मरणधर्मा साधारण श्रेणी के मनुष्य हैं। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।" "इदं भस्मान्तं शरीरम्।" ऐसे मर्त्यों में परमात्मा का अवतार या अनुप्रवेश कैसे हो सकता है? पतंजलि ने कहा कि 'महता देवेन नः साम्यं यथा स्यात्।" उनका मत है कि व्याकरण का अध्ययन करके शब्दों का सही प्रयोग करें तो हम परमात्म साम्य के अधिकारी हो सकते हैं। यह परमात्म साम्य क्या है? इस सुन्दर उक्ति का तात्पर्य है कि मानव में भाषा के माध्यम से दैवी शक्ति का विकास किया जा सकता है।

मानव का जीवन अल्पकालिक है। उसकी शक्तियाँ सीमित हैं। फिर भी मानव ने भाषा की सहायता से कितना विकास किया है! आज संसार में कितनी विद्याएँ विकसित हुई हैं! कितना ज्ञान मानव ने अर्जित किया है! और इस अमूल्य ज्ञान भंडार की दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। विद्वान् निरंतर ज्ञान की साधना में लगे हुए हैं। इसी ज्ञान के आधार पर मानवीय संस्कृति का भव्य निर्माण हो रहा है। यही दैवी शक्ति का विकास या मर्त्य में परमात्मा का अनुप्रवेश है।

हर आदमी जब जन्म लेता है तब भौतिक रूप में वह केवल पशु ही होता है। आहार निद्रा आदि में मानव और पशु के बीच कोई अंतर नहीं है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है

'आहार निद्रा भय मैथुनं तु
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।"

किंतु मानव के पास एक अमूल्य संपत्ति है—भाषा। मानव प्रयत्न से भाषा को अर्जित करता है। इस भाषा के माध्यम से वह ज्ञान भंडार पर अधिकार कर लेता है। वह सभ्य और संस्कृत बनकर उत्तम जीवन बिताने लगता है। पशुत्व से ऊपर उठकर देवत्व के सोपान पर कदम रखने की क्षमता प्राप्त करता है। भाषा ही उस पशुत्व के शाप से मुक्ति दिलाकर देवत्व का वरदान दे सकती है। इसी भाषामूलक विकास को 'परमात्मा का अनुप्रवेश' कहा गया है।

३.१२ ऋचा में भाषा का महत्त्व पूर्वोक्त रूपकातिशयोक्ति के जरिये बताया गया है। इसीको संस्कृत के एक विख्यात आलंकारिक आचार्य दंडी ने 'काव्यादर्श

म अपनी शली म दुहराया है

इदमघ तम कृत्स्न जायेत भुवनत्रयम।
यदि शब्दाह्वय ज्योतिरासंसारान न दीप्यते॥

दडी का कहना है कि शब्द एक विलक्षण ज्योति है। इस प्रसग मे शब्द का अथ भाषा है। भाषारूपी ज्योति के कारण सारे ससार म—तीनो लोको म—प्रकाश फैला हुआ है। प्रकाश का अथ असदिग्ध ज्ञान है। अधकार मे पदाथ प्रकाशित नही होते। अल्प प्रकाश की स्थिति म पदार्थों का ज्ञान अस्पष्ट या सन्दिग्ध रहता है। जहा पयाप्त प्रकाश का प्रबंध है वहा पदार्थों का स्पष्ट और असदिग्ध ज्ञान प्राप्त हो सकता है। तीनो लोको मे समस्त पदार्थों को उदभासित करने वाला प्रकाश भाषारूपी ज्योति से ही उपलब्ध होता है। इस ज्योति के अभाव म तो सारा ससार अधकार म विलीन हो जायेगा। किसीको किसी विषय का सही ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा। समस्त विद्याओ का उच्छेद हो जायेगा।

सूय आदि ज्योतिपुजो से बाह्य अधकार का निवारण होता है। किंतु अज्ञानरूपी आतरिक अधकार का निवारण करने की क्षमता एकमात्र भाषा म ही निहित है। अतएव भारतीय मनीषियो न वाणी को 'सरस्वती देवी' के रूप मे मा यता दी और उसकी उपासना को क्तव्य माना "वाचमुपास्स्व!" भाषा की देवी वास्तव म समस्त विद्याओं की देवी है दडी न इसीलिए का यादश क आरभ म मगलाचरण के रूप म विद्या की देवी वाणी की स्तुति की है

चतुर्मुखमुखाम्भोज
वन - हस - वधूमम।
मानसे रमता नित्य
सवशुक्ला सरस्वती॥

वाणी आदि भाषा के ही पयाय हैं। अमरकोश की पक्ति है— गीर्वाग् वाणी सरस्वती।" इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय आचाय भाषा को कितना महत्त्व देते थे। यह अधविश्वास की बात नही है। वैज्ञानिक दृष्टि स भाषा का महत्त्व पहचानने के कारण ही उसे देवी' का स्थान दिया गया है।

४ भाषा हमारे जीवन मे सर्वाधिक महत्त्व रखती है। समस्त लोकव्यवहार भाषा पर ही आधारित है। अशिक्षित लोग भी अपना काम भाषा के द्वारा ही चलाते ह। उनकी भाषा भल ही शिष्टसम्मत न हो व व्याकरण की सूक्ष्म बातो से भले ही अनभिज्ञ हो, किंतु भाषा के बिना उनका व्यवहार नही चल सकता। दडी कहते है

इह शिष्टानुशिष्टानां
शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन
लोकयात्रा प्रवर्तते ॥

(काव्यादर्श)

शिष्टानुशिष्टानाम्' का अर्थ है ऐसे शब्द, जो शिष्ट समाज के द्वारा स्वीकृत तथा व्याकरणों के नियमों से प्रमाणित है—"पाणिनिप्रभृतिभिः शास्त्रकारैः व्याख्यातानामित्यर्थः।' इस शब्दों से मानक भाषा का निर्माण होता है। यही शिष्टपरिगृहीत साहित्यिक या प्राथमिक भाषा है। शिष्टानाम्' का अर्थ है ऐसे शब्द जो इस मानक भाषा में नहीं आते। यह दूसरा वर्ग बहुत व्यापक है, इसमें मानकेतर समस्त भाषारूपों का समावेश किया जा सकता है। बोलियों, आंचलिक या प्रादेशिक प्रयोग अपशब्द आदि समस्त भाषाई सामग्री को इसी वर्ग में स्थान देना चाहिए। ऐसे शिष्टसम्मत या उनसे भिन्न प्रकार के शब्दों से ही लोक-व्यवहार प्रचलित हो रहा है।

ऐसी महत्त्वपूर्ण भाषा के विषय में हम क्या जानते हैं? भाषा की जानकारी कितनी प्राप्त करते है? हम तो बचपन से ही भाषा का प्रयोग करना सीखते हैं। बच्चे बड़ों की नकल करके भाषा सीखते हैं। अनुकरण के द्वारा भाषा का शिक्षण सरलता से प्राप्त होता है। भाषा अनायास—हमारे प्रयत्न के बिना—संप्राप्त या अधिगत नहीं होती। भाषा तो अर्जित की जाती है। मानव मस्तिष्क में ऐसी एक विलक्षण शक्ति निहित है कि वह भाषा को अर्जित कर सकता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार उसका प्रयोग भी कर सकता है। भाषा-अधिगम या शिक्षण की प्रक्रिया का आरंभ शैशवावस्था से ही माना जाता है और जीवन पर्यन्त यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। भाषा शिक्षण का अंत कभी नहीं हो सकता। भाषा की शब्द-सम्पत्ति अनंत है। इन शब्दों के विविध प्रकार के समायोजनों से निर्मित होने वाले वाक्यों की कोई इयत्ता या सीमा नहीं है। भाषा में वाक्यों का भंडार अक्षय है अनन्त है। हम ऐसे वाक्यों का भी सहज रूप से निर्माण कर सकते हैं जो इससे पहले कभी प्रयुक्त नहीं हुए थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वाक्य रचना के स्वीकृत नियमों के आधार पर हम सर्वथा नवीन एवं मौलिक उद्भावना कर सकते हैं। अतएव भाषा की संभावनाएँ वास्तव में असीमित होती हैं कल्पनातीत होती हैं। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि हम भाषा की इस असीम संपत्ति का एक अल्प अंश ही काम में लाते हैं—'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।' इसका अर्थ है कि हम भाषा के अक्षय भंडार के एक देश का ही उपयोग कर पाते है। कोई व्यक्ति सौ साल तक जीवित रहता है और जीवन के अंत तक भाषा का

प्रयोग करता रहता है, तो भी वह भाषा के कितने अंश का उपयोग कर पाता है ? करोड़ो व्यक्ति एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, तो भी सब मिलकर सामूहिक रूप से क्या भाषा के समस्त शब्दों को समाप्त कर देते हैं ? समस्त मानवजाति अनंत काल तक प्रयोग कर सके, इतनी बड़ी संख्या में शब्दों की अक्षय निधि भाषा के भंडार में सुरक्षित है। तो क्या हम यह दावा कर सकते हैं कि हम अपनी भाषा के विषय में पूर्ण ज्ञान रखते हैं ?

४.१ कुछ लोग केवल अपनी मातृभाषा को जानते हैं। उन्हें किसी अन्य भाषा का परिचय प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता। कुछ लोग अपनी किसी आवश्यकता के कारण अन्य भाषा भी सीखते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि विविध कारणों से अन्य भाषा शिक्षण में रुचि लेनी पड़ती है। आज के भारत में लोग अंग्रेजी सीखते हैं। राष्ट्रभाषा और संपर्क भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण भारत के अहिंदी क्षेत्र के विद्यार्थी हिंदी सीखते है। विदेशी छात्र भी काफी संख्या में हिंदी सीखने लगे है। उत्तर भारत के कुछ लोग सांस्कृतिक तथा साहित्यिक आदान प्रदान की दृष्टि से दक्षिण भारत की कोई भाषा सीखते हैं। सांस्कृतिक एकता की रक्षा के लिए तथा प्राचीन भारत का यथार्थ परिचय पाने के लिए कुछ लोग संस्कृत का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार लाखों करोड़ों लोग विविध उद्देश्यों से प्रेरित होकर अपनी मातृभाषा से भिन्न एक या अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। फिर भी इनमें से कितने लोग यह दावा कर सकते हैं कि हमने इस या उस भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया है ?

अपनी मातृभाषा के संबंध में भी लोगों को कितना ज्ञान होता है ? कई लोग भाषा सीखने में इतने सफल होते है कि एक साथ कई भाषाओं पर अच्छा अधिकार रखते हैं। फिर भी क्या उन्हें भाषा के संबंध में स्पष्ट, असंदिग्ध और पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है ? खेद के साथ कहना पड़ता है कि हम भाषा का व्यवहार तो करते हैं, किंतु उसकी प्रकृति, स्वरूप या रहस्य को हम नहीं जानते। पूर्ण ज्ञान की आशा करना तो दूर की बात है किंतु भाषा का निकट परिचय रखने पर भी हम उसके संबंध में सामान्य ज्ञान प्राप्त नहीं करते, ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं करते, हमारे मन में जिज्ञासा ही नहीं उठती, इसीलिए भाषा के गंभीर विवेचन एवं विश्लेषण की दिशा में हम कुछ नहीं करते। काम चलाऊ ज्ञान पाकर ही हम संतुष्ट हो जाते हैं। इससे अधिक कुछ जानने की कामना या उत्कंठा के अभाव में हमारा ज्ञान बहुत ही निम्न स्तर का रह जाता है।

४.२ हम प्रतिदिन भोजन करते हैं। भोजन से हमारे शरीर का पोषण होता है। हम अपनी रुचि के अनुसार विविध प्रकार के भोज्य पदार्थों को तैयार करते हैं। षटरसों का आस्वादन करते हैं। हम सामान्य रूप से यह जानते है कि प्राण धारण के लिए भोजन अनिवार्य है। किंतु कितने लोग जानते है कि

से शरीर का पोषण कैसे होता है ? हम जो रोटी चावल आदि खाते हैं इस भोज्य सामग्री से शरीर के निर्वाह के लिए आवश्यक रक्त, मांस, हड्डी आदि का निर्माण किस प्रकार होता है ? हमारे पेट में पहुँचने के बाद भोजन का क्या होता है ? जो लोग शरीर विज्ञान के अध्येता या वैद्यशास्त्र के विद्यार्थी हैं व जानते हैं कि पाचन की प्रक्रिया कैसे निष्पन्न होती है। साधारण लोग तो भूख लगने पर खाना खाते हैं व भोजन से प्राप्त होनेवाले लाभ को तो अवश्य पाते हैं, किंतु उस प्रक्रिया के रहस्य को नहीं जानते। इसी प्रकार हम अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपनी इच्छा के अनुसार भाषा का प्रयोग तो करते हैं किंतु भाषा के असली स्वरूप को या उसके अंतरंग रहस्य को हम नहीं जानते।

४ ३ ऋग्वेद का एक मंत्र भाषा के इस गहन तत्त्व की व्याख्या करता है

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्
उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋग्वेद, १० ७१-४)

इसका सरल अर्थ है कि कोई भाषा को देखकर भी नहीं देखता। अर्थात् उसका भाषादर्शन अपूर्ण है। किंचित ज्ञान प्राप्त होने से हम कह सकते हैं कि हम भाषा को जानते हैं। पूर्ण ज्ञान के अभाव के कारण हम यह भी मानने को तैयार हैं कि हम भाषा को नहीं जानते। कोई भाषा को सुनकर भी नहीं सुनता। यहाँ सुनने का अर्थ केवल श्रवण नहीं, अपितु समझना है। श्रवणपूर्वक अर्थ-ज्ञान को 'श्रवण' के रूप में कहा गया है। हम भाषा के कुछ शब्दों या वाक्यों को सुनकर उनका अर्थ ग्रहण करते हैं किंतु सभी शब्दों और वाक्यों का अर्थ हम समझ नहीं पाते। भाषा एक जटिल व्यवस्था है। उसके अंतर्गत कई व्यवस्थाएँ काम कर रही हैं। एक तो भाषा की ध्वनि व्यवस्था है। ध्वनियों का ज्ञान भाषा ज्ञान का मूल आधार है। इस ज्ञान के बिना हम ध्वनियों का सही उच्चारण नहीं कर सकते तथा दूसरों के उच्चारण को सुनकर पहचान नहीं सकते। दूसरी रूपव्यवस्था है। प्रत्येक शब्द के कई रूप होते हैं उनमें सूक्ष्म अर्थभेद विद्यमान रहता है। भाषा की रूपात्मक संरचना का पर्याप्त ज्ञान नहीं हो तो फिर उस भाषा में व्यवहार करने की क्षमता प्राप्त नहीं हो सकती। तीसरी वाक्य व्यवस्था है। वाक्य के घटक पदों का क्रम किस प्रकार का है ? एक पद का दूसरे पद के साथ संबंध कैसे स्थापित होता है ? अन्विति के नियम क्या हैं ? वाक्य व्यवस्था के अंतर्गत ऐसी कई बातों का विवेचन अभीष्ट है। इसका ज्ञान नहीं हो तो फिर हम अपने विचारों का संप्रेषण कैसे कर सकते हैं या दूसरों के विचारों को कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? चौथी

अर्थ-व्यवस्था (Semantic System) है। प्रत्येक शब्द का अपना एक विशिष्ट अर्थ होता है। इस अर्थ की व्याप्ति तथा सीमा को भली भाँति जानने पर ही हम उस शब्द का सही प्रयोग कर सकते हैं। ऐसा विस्तृत, गंभीर और प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भाषा का गहन अध्ययन करना अपेक्षित है। हम तो सतही ज्ञान पाकर उसीसे अपना काम चला लेते हैं। अतएव मन्त्र में कहा गया है कि हम देखकर भी नहीं देखते, सुनकर भी नहीं सुनते। संक्षेप में इसका तात्पर्य है कि हम अल्प ज्ञान से संतुष्ट होकर पर्याप्त शास्त्रीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं करते।

४४ किंतु कुछ लोगों के मन में जिज्ञासा प्रबल होती है। वे अधूरे ज्ञान से संतुष्ट नहीं होते। उनके सामने कई प्रश्न आ खड़े होते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर खोज निकालने के प्रयत्न में उन जिज्ञासुओं को भाषा संबंधी अनेकानेक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई भक्त अपनी तपस्या और साधना से भगवान् का साक्षात्कार कर सकता है, उसी प्रकार वे भाषा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर लेते हैं। "तन्वं विसस्रे।"—भाषा ऐसे साधकों के सामने अपना स्वरूप खोलकर प्रकट कर देती है। भाषाविज्ञानी या वैयाकरण वाणी की उपासना करनेवाला भक्त है। भाषा ही उसकी आराध्य देवी है। भाषा के मर्म को समझने के लिए वह निरंतर प्रयत्न करता है। यही उसकी तपस्या है। इस तपस्या का ही यह परिणाम होता है कि वह भाषा के अंतरंग को पहचान लेता है। भाषा में निहित व्यवस्था के दर्शन कर लेता है और उस व्यवस्था की व्याख्या कर सकता है।

४५ मन्त्र इस बात पर बल दे रहा है कि विश्लेषण या विवेचन का प्रयास करना भाषातत्त्व-दर्शन के लिए अत्यावश्यक है। पल्लवग्राही पांडित्य से इस कार्य में कोई लाभ नहीं होगा। भाषा की समस्त उपलब्ध सामग्री का प्रामाणिक संकलन, शास्त्रीय पद्धति से उस सामग्री का सूक्ष्म विवेचन और संभावित उत्तरों का परीक्षण पुनरीक्षण आदि उपायों से भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर ही हम अपनी भाषा का सही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। ऐसा अध्ययन करने के लिए जब मानव ने पहला प्रयत्न किया, तब भाषा विज्ञान या व्याकरण का आरंभ हुआ।

५ वैदिक साहित्य में यह उल्लेख मिलता है कि प्राचीन काल में भाषा का व्यवहार तो हो रहा था पर उसका विवेचन विश्लेषण नहीं हुआ था। इस विश्लेषण का ही नाम 'व्याकरण' है। तब भाषा अव्याकृत रही थी। इसमें कुछ विद्वानों को भाषा विश्लेषण की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने 'इंद्र' नामक एक श्रेष्ठ विद्वान् से प्रार्थना की कि आप भाषा का विवेचन प्रस्तुत कीजिए। इंद्र भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने भाषा का रहस्य उद्घाटित करते हुए एक 'व्याकरण'

का प्रणयन किया।

वद के वाक्य निम्न प्रकार के हैं

वाग व पराच्यव्याकृताऽवदत।
ते देवा इन्द्रमब्रुवन।
इमां नो वाच व्याकुर्विति।
तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत॥

(तैत्तिरीय सहिता, ६-४ ७)

य 'इन्द्र' कौन थे? इनके काल देश, ग्रथ आदि के बारे म आज हम कुछ नही जानत। परपरा मानती है कि एक ऐंद्र व्याकरण था। आज तो वह ग्रथ लुप्त हो चुका है। जनश्रुति के अनुसार तमिल भाषा का प्रथम व्याकरण 'तोल्काप्पियम्' ऐंद्र व्याकरण स प्रभावित है। 'तोलकाप्पियम् की रचना दो हजार वप पूव हुई। अत यह सभव है कि उस समय तक ऐंद्र व्याकरण का प्रचार रहा हो। किंतु पाणिनि न अष्टाध्यायी म कही एक वयाकरण के रूप म इन्द्र का स्मरण नही किया। इस नकारात्मक साक्ष्य से कोई निष्कष निकालना सभव नही है। इतना ही असदिग्ध रूप मे कहा जा सकता है कि इन्द्र नाम के एक आचाय सस्कृत भाषा के प्रथम वयाकरण थे।

५ १ पाणिनि ने अष्टाध्यायी म दस आचार्यों के नाम निर्देशपूवक स्मरण किय हैं। इससे प्रमाणित होता है कि पाणिनि से पूव ही सस्कृत मे व्याकरण की एक समद्ध परम्परा का विकास हो चुका था। इनम से दो आचार्यों का उल्लेख यास्क न अपन निरक्त म किया है। ये आचाय हैं शाकटायन और गाग्य। शाकटायन व्युत्पत्तिवादी थे। उनका सिद्धान्त था कि सस्कृत भाषा के सभी नामपद आख्यात या धातु से व्युत्पन्न हुए हैं। यही 'निरुक्त' का भी निश्चय है। यास्क ने लिखा है—

सर्वाणि नामानि आख्यातजानि इति शाकटायन।" इसके विपरीत गाग्य का मत था कि कुछ शब्द व्युत्पन्न हैं तो कुछ अव्युत्पन्न भी हैं। गाग्य के साथ कुछ अन्य वैयाकरण भी इसी विचार के पोषक थे। यास्क ने कहा है, 'न सर्वाणीति गाग्य वयाकरणाना चके।" यास्क के इस कथन से हम अनुमान कर सकते हैं कि तब तक व्याकरण के कुछ सप्रदाय (Schools) बन चुके थे। गाग्य आदि कुछ वैयाकरण अव्युत्पत्ति पक्ष का समथन कर रहे थे शाकटायन आदि कुछ अन्य वयाकरण व्युत्पत्ति पक्ष की स्थापना करने म लगे थे।

५ २ रोचक बात तो यह है कि अव्युत्पत्ति पक्ष के आचाय भी मानते थे कि कई शब्द व्युत्पन्न हैं (न सर्वाणीति गाग्य)। आचाय गाग्य का कहना था कि सभी शब्द व्युत्पन्न नही है। भाषा म उपलब्ध समस्त शब्दों को व्युत्पन्न कहना

तो आग्रह की बात होगी। इस अतिवाद का गार्ग्य ने खंडन किया। लेकिन यह भी तो अतिवाद का ही एक दूसरा रूप होता यदि गार्ग्य कहते कि सभी शब्द अव्युत्पन्न हैं। व्युत्पत्तिवादी आचार्य अव्युत्पन्न शब्दों का निषेध करते है। प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति बतलाने का वे प्रयास करते हैं, किंतु अव्युत्पत्तिवादी आचार्य भी व्युत्पन्न शब्दों का निषेध नहीं करते। वे तो स्वीकार करते है कि कई शब्द आख्यात (धातु) से निष्पन्न होते हैं। कहने का तात्पर्य है कि गार्ग्य व्युत्पत्ति के विरोधी नहीं हैं। शाकटायन और गार्ग्य मे व्युत्पत्ति के विषय में ऐकमत्य है। अंतर केवल इतना है कि शाकटायन अतिवादी हैं और गार्ग्य इस प्रकार के आग्रह से मुक्त हैं।

५.३ 'व्युत्पत्ति' का अर्थ क्या है? यह शब्द दो उपसर्गों से युक्त 'पद' धातु से निष्पन्न है। वि+उत+पद+ति=व्युत्पत्ति। इसका अर्थ है प्रकृति प्रत्यय-विभाग के आधार पर शब्द की निष्पत्ति। 'पद' एक धातु है। इसके बाद 'क्तिन' प्रत्यय जुड़ा है। इस प्रकार हम इस शब्द में एक प्रकृति (मूल शब्द) और एक प्रत्यय का अस्तित्व पहचानते हैं। धातु का अर्थ क्या है? उसमे जुड़नेवाले प्रत्यय का अर्थ क्या है? इस प्रत्यय को जोड़ने पर प्रकृति में क्या ध्वन्यात्मक परिवर्तन होता है? उपसर्गों के योग से धातु के अर्थ मे किस प्रकार की विशेषता का आधान होता है? यही 'व्युत्पत्ति' का क्षेत्र है। इस प्रकार की चर्चा करके, व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द का अर्थ निर्णय करना निरुक्त या निर्वचन का काम है। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि निरुक्त व्याकरण पर आधारित है। व्याकरण उपजीव्य शास्त्र है। उसी का अवलंबन लेकर निरुक्त की प्रवृत्ति होती है। व्याकरण के बिना निरुक्त का निर्माण करना संभव नहीं है। अतएव यास्क ने स्वीकार किया है कि निरुक्त व्याकरण का पूरक है, उसीका एक विस्तरण (Extension) है—'व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्।' 'कृत्स्न' का अर्थ है समग्र, संपूर्ण। व्याकरण की पूर्णता निरुक्त से की जाती है। यही यास्क का भाव है। उनके ग्रंथ का परिशीलन करने से प्रमाणित होता है कि व्याकरण का व्यापक ज्ञान नहीं हो तो निरुक्त का विचार करने की क्षमता प्राप्त नहीं हो सकती।

५.४ शास्त्रकारों ने माना है कि वेद के छह अंग होते हैं। अमरकोश आदि ग्रंथों में इन अंगों की सूची दी गयी है

"शिक्षा व्याकरणं छन्दो
निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पं चेति षडङ्गानि
वेदस्याहुर्मनीषिणः ॥

इनमे से ज्योतिष और कल्प भाषा से संबंधित नहीं हैं। बाकी चारों अंग—

शिक्षा व्याकरण निरुक्त और छन्द—भाषा से ही संबंधित हैं। इन चारों का भाषा विज्ञान के अंग कह सकते हैं। इनमें छन्द पद्य की भाषा तक सीमित है और वर्णों की संख्या, मात्रा तथा गुरुलाघव की चर्चा करता है। भाषा के अन्य रूपों से उसका संबंध नहीं है। किंतु शिक्षा आदि तीनों अंग भाषा के विश्लेषण के लिए अनिवार्य हैं। इनमें व्याकरण प्रधान है। शिक्षा और निरुक्त उसीके पोषक और पूरक अंग हैं। शिक्षा का अर्थ है ध्वनि विज्ञान। यह व्याकरण की आधारशिला है। निरुक्त तो व्याकरण का ही व्युत्पत्तिपरक अनुप्रयोग है। व्याकरण का कोश विज्ञान के साथ जोड़नेवाली कड़ी निरुक्त है। अतः यह मानना तर्कसंगत है कि निरुक्त से पहले व्याकरण का विकास हुआ। यास्क का ग्रंथ स्वयं ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है।

६. ऋग्वेद संहिता में निर्वचन अथवा व्युत्पत्ति प्रदर्शन के कई उदाहरण मिलते हैं। इन उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में ऋषियों ने व्युत्पत्ति के संबंध में मौलिक चिंतन किया था और धातु प्रत्यय उनके योग से होने वाले रूपांतर आदि की कल्पना की थी। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं

(१) एवा कविस्तुवीरवाँ ऋतज्ञा
द्रविणस्युर्द्रविणसश्चकान। (१०.६४.१६)

(२) स्तोतृभ्यो महते मघम्। (१-११.३)

(३) गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। (१.१०.१)

(४) अयमस्मि मदिरस्य पीतये। (१-१६६-७)

(५) समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा समक्तुभिरज्यते विश्ववारः।
(३.१७.१)

'निरुक्त मीमांसा' के लेखक श्री शिवनारायण शास्त्री ने 'भारतीय भाषा विज्ञान की भूमिका' नामक पुस्तक में[1] वैदिक साहित्य में उपलब्ध व्युत्पत्तियों की एक काफी बड़ी सूची प्रस्तुत की है। उन्होंने ऋग्वेद से निर्वचन के १४६ (एक सौ छियालीस) उदाहरण संकलित करके दिए हैं। इस पुस्तक में श्री शास्त्रीजी के दो लेख द्रष्टव्य हैं (१) ऋग्वेद संहिता में व्युत्पत्ति चिंतन (पृष्ठ २४-११७), (२) ऋग्वेदेतर वैदिक वाङ्मय में व्युत्पत्ति चिंतन (पृष्ठ ११८-१५२)। इस प्रकार काफी विस्तार के साथ श्री शास्त्रीजी ने सैकड़ों उदाहरण देकर व्युत्पत्ति विज्ञान

१. 'भारतीय भाषा विज्ञान की भूमिका'—प्रथम संस्करण सन् १९७२ प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागंज दिल्ली ६ संपादक—डा० भोलानाथ तिवारी डा० माणिक लाल चतुर्वेदी डा० भगतसिंह।

के प्रारंभिक विकास का चित्रण किया है। वैदिक ऋषियों का व्युत्पत्ति के विषय में इतना ज्ञान रहा है कि व्याकरण के विकास के बिना इसकी कल्पना तक करना कठिन है। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक ग्रंथों से प्रमाणित होता है कि संस्कृत भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन वैदिक काल में ही काफी आगे बढ़ चुका था।

६ १ यास्क ने व्युत्पत्ति का निरूपण करने के लिए भाषा में होनेवाले रूप-स्वनिमीय विकारों का (Morphophonemic chahges) अध्ययन करने की आवश्यकता पर बल दिया है। लोप, आगम और आदेश के उदाहरण देकर बताया है कि ऐसे विकारों का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करना व्युत्पत्ति के प्रतिपादन के लिए अनिवार्य है। काशिकावृत्ति के लेखक जयादित्य ने भी इसी प्रकार वर्ण विकारों के अध्ययन का महत्त्व बताया है

वर्णागमो वर्णविपर्ययश् च
द्वौ चापरौ वर्ण विकार नाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्
तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

यास्क ने इन विकारों के जो उदाहरण दिखाए हैं उनकी परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि शब्द रचना की प्रक्रिया का गूढ़ रहस्य यास्क की समझ में आ चुका था। उन्होंने लिखा है

(१) "प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते। अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादि-लोपो भवति—स्त सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति—गत्वा, गतमिति। अथाप्युपधालोपो भवति—जग्मतु जग्मुरिति। अथापि वर्णलोपो भवति—तत्त्वा यामीति। अथापि द्विवर्णलोप —तृच इति।

(२) अथापि उपधाविकारो भवति—राजा, दण्डीति। अथापि आदि-व्यापत्तिर्भवति—ज्योतिर्घनो बिंदुर्वाध इति। अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति—स्तोका, रज्जू सिकता तर्क्विति। अथापि अन्तव्यापत्तिर्भवति—ओघो मेघो नाधो गाधा वधूर्मध्विति। अथापि वर्णोपजन —आस्थत द्वारो, भरुजेति।"

६ २ यास्क ने 'प्रत्तम् अवत्तम्' में आदि ध्वनि का शेष बताया। 'धात्वादी एव शिष्यते।" इन रूपों की रचना पर विचार करके देखें। प्र+दा+त = प्रत्त। अव+दा+त=अवत्त। यह 'दा' धातु का भूतकालिक क्तप्रत्यान्त (Past Participle) रूप है। यास्क का कहना है कि 'प्र' और 'अव' के बाद 'दा' धातु का प्रथम वर्ण दकार तो बचता है, किंतु उसके द्वितीय वर्ण 'आ' का लोप हो जाता है। आकार के लोप के बाद धातु का रूप 'द्' रह जाता है। दकार घोष है, किंतु परवर्ती तकार अघोष है। अत परवर्ती वर्ण के प्रभाव से दकार भी अघोष बन जाता है, त में बदल जाता है। इस प्रकार प्रत्तम् और अवत्तम् में आदि

वर्ण का शेष और उसका अघोषीकरण हुआ है। इन शब्दों में दो तरह के विकार हुए हैं। 'दा' धातु के आकार का लोप तो किसी विशिष्ट उपसर्ग या प्रत्यय के योग में ही संभव है। अन्यत्र 'ददाति', 'दानम्', 'दाता' आदि में आकार श्रूयमाण रहता है, उसका लोप नहीं होता। अतः यह विकार रूपस्वनिमीय (Morphologically Conditioned or Morphophonemic) है। आकार के लोप के बाद दकार का अघोषीकरण प्रत्यय, उपसर्ग आदि रूपात्मक तत्त्वों पर आधारित न होकर केवल वर्णाश्रित तथा वर्णनिमित्तक (Phonologically Conditioned) है। ऐसे विकार का नाम है 'संधि'। यह 'चर्त्व संधि' का उदाहरण है।

६.२.१ यास्क ने बताया कि इन शब्दों में धातु के आकार का लोप है—यही आदि शेष का तात्पर्य है। किंतु पाणिनि ने दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की। उनका सूत्र है— अच उपसर्गात् तः' (७.४.४७)। इस सूत्र का अर्थ है अजन्त उपसर्ग के बाद आने वाले 'दा' धातु के अच् के स्थान पर तकार का आदेश होता है यदि तकारादि कित् प्रत्यय लगा हो। इस प्रकार 'दा' के आ-कार के स्थान में त-कार का आदेश हुआ। कृत प्रत्यय है 'त'। धातु के दकार का चर्त्व करने से वह भी 'त' हो गया। तो एक साथ तीन त-कारों का संयोग हो जाता है। तीनों में से एक तकार का लोप किया जाता है—(१) झरो झरि सवर्णे।" तब 'प्रत्तम्' आदि द्वितकारक रूपों की निष्पत्ति होती है।

६.२.२ आकारान्त धातुओं में आकार का लोप एक चिरपरिचित और बहुप्रचलित प्रक्रिया है। इसके लिए पाणिनि ने एक सूत्र बनाया है— 'आतो लोप इटि च'। जलद फलप्रदम् यशोदा आदि शब्दों में 'दा' धातु के बाद आर्धधातुक कित् प्रत्यय लगता है तो आ-कार का लोप हो जाता है। अन्यत्र भी आ-कार का लोप देखा जा सकता है—'श्नाभ्यस्तयोरातः।' श्रीणन्ति, ददति। कहने का तात्पर्य है कि आ-कार का लोप संस्कृत की रूप रचना प्रक्रिया में एक साधारण बात है। अतएव यास्क ने 'प्रत्तम्' आदि में भी ऐसे लोप की कल्पना की। पाणिनि ने यहाँ कुछ जटिलता को अपनाया। जब यास्क के अनुसार लोप और चर्त्व इन दो कार्यों (Operations) से रूपनिष्पत्ति हो रही है, तब पाणिनि के अनुसार तीन कार्य अपेक्षित हैं—आदेश, चर्त्व और लोप। लोप को छोड़ना संभव नहीं है। यास्क की प्रक्रिया अधिक सरल मालूम होती है।

६.२.३ यास्क ने आदिलोप के दो उदाहरण दिए—स्तः, सन्ति। ये 'अस्' धातु के लट् लकार (वर्तमान काल) के प्रथम पुरुष के द्विवचन-बहुवचन के रूप हैं। लट् लकार के रूपों की तालिका नीचे प्रस्तुत है

धातु 'अस' (अस भुवि)
वर्तमान काल—लट् लकार

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र पु	अस्ति	स्त	सन्ति
म पु	असि	स्थ	स्थ
उ पु	अस्मि	स्व	स्म

इन रूपों को देखने से स्पष्ट होता है कि एकवचन में 'अस' का अकार श्रूयमाण रहता है किंतु द्विवचन और बहुवचन में उसका लोप हो जाता है। जिन प्रत्ययों के योग में अकार का लोप होता है, उनको यास्क ने 'निवृत्ति-स्थान' का नाम दिया है। निवृत्ति का अर्थ है वर्ण का लोप। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि यास्क संस्कृत की रूपरचना (morphology) के सिद्धांतों को जानते थे।

६२४ इसी प्रकार 'श्नम्' विकरण प्रत्यय के भी अकार का लोप होता है। रुधादिगण की क्रियाओं में सार्वधातुक लकारों में 'श्नम्' प्रत्यय जुड़ता है। इसमें शकार तथा मकार का इत्संज्ञा के कारण लोप हो जाता है, 'न' बचता है। यह प्रत्यय मित् होने के कारण धातु के स्वरों में अंतिम स्वर के बाद लगता है—"मिदचोऽन्त्यात् परः।" रुध+ति। 'न' 'रुध्' में उकार के बाद जुड़ता है। रु+न+ध+ति=रुणद्धि। यह एकवचन का रूप है। द्विवचन और बहुवचन में 'न' के अकार का लोप हो जाता है—रुन्धः, रुन्धन्ति। अतएव पाणिनि ने इन दो बातों को मिलाकर एक सूत्र बनाया—"श्नसोरल्लोपः।" यास्क के उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि वे ऐसे 'अल्लोप' (अकार का लोप) को जानते थे। हाँ, इतना अवश्य है कि पाणिनि की तरह यास्क ने अकार-लोप का नियम नहीं बताया।

६२५ यास्क ने अंत लोप की चर्चा करके दो उदाहरण दिए—गत्वा, गतम्। ये शब्द 'गम' धातु से निष्पन्न हैं। यह धातु मकारांत है। गमन, आगम, निगम, आगामी आदि शब्दों में मकार का श्रवण होता है, किंतु कई शब्दों में मकार का लोप हो जाता है। पाणिनि ने इसका नियम बताया—"अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति।" 'गम' धातु अनुदात्तोपदेश है अतः झलादि कित या ङित् प्रत्यय परे होने पर 'गम्' के अनुनासिक मकार का लोप होता है। गम्यते इत्यादि में लोप नहीं होता, क्योंकि 'य' प्रत्यय 'ङित' होने पर भी झलादि नहीं है। गन्ता' आदि में भी लोप नहीं होता, क्योंकि 'तृच या तासि' प्रत्यय झलादि तो है किंतु वह ङित् नहीं है। गत्वा' में पूर्वकालिक क्रियाद्योतक प्रत्यय 'क्त्वा' आया है, जो झलादि और कित् है। 'गतम्'

म वन प्रत्यय लगा है। यह भी झलादि और कित है। अत इन दोनों रूपों म मकार लुप्त हुआ है। पाणिनि ने इतने लक्ष्यों का विवेचन करने के बाद पूर्वोक्त नियम की स्थापना की। यास्क इन उदाहरणों से परिचित थे। इससे प्रमाणित है कि व्युत्पत्ति विज्ञान की सकुचित सीमा स बाहर भी व्याकरण की सामान्य प्रक्रिया को व जानते थे।

६ २ ६ उपधा लोप के दो उदाहरण यास्क ने दिए हैं—जग्मतु, जग्मु। किसी शब्द (रूप = morph) के उपान्त्य वर्ण को उपधा' कहते हैं—' अलोऽन्त्यात पूव उपधा '—यह एक पारिभाषिक सज्ञा है। जग्मतु ' लिट् लकार के प्रथम पुरुष म द्विवचन का रूप है। 'जग्मु ' बहुवचन का रूप है। 'लिट्' लकार परोक्ष भूत के अथ म विहित है—"परोक्षे लिट"। यह लकार आर्धधातुक है। इस लकार म कोई विकरण प्रत्यय नहीं लगता। किंतु लिट् मे धातु का द्वित्व होता है—' लिटि धातो रनभ्यासस्य।" द्वित्व के बाद पूवखड म कवग के स्थान पर चवग का आदेश होता है—"कुहो चु।" पूवखड के पहले 'हल्' (व्यजन) को छोडकर बाकी हल्-वर्णों का लोप होता है—"हलादि शेष।" अतुस्' द्विवचन का प्रत्यय है। गम्+अतुस् =(द्वित्व) गम्+गम्+ अतुस=(अभ्यास म मकार का लोप तथा 'ग' के स्थान पर ज' का आदेश) ज+गम+अतुस। इस स्थिति म द्वित्व के उत्तर खड म 'गम' की उपधा का—अकार का—लोप हो जाता है। 'ज+ग्म्+अतुस'—जग्मतुस्—जग्मतु। यही प्रक्रिया बहुवचन म भी पायी जाती है। गम+उस= जगम्+उस=जग्मुस् =जग्मु। 'लिट' लकार के द्विवचन तथा बहुवचन प्रत्यय 'कित' माने जाते हैं—"असयोगात लिट कित।" कित या ङित अजादि प्रत्यय के योग म 'गम' धातु की उपधा का लोप विहित है—"गम-हन जन-खन घसा लोप क्ङित्यनङि।" पाणिनि ने इस सूत्र में बताया है कि एक मकारात (गम) तीन नकारात (हन, जन और खन) और एक सकारात (घस) धातु की उपधा का कुछ विशिष्ट प्रत्ययो के योग म लोप होता है। यास्क इस तरह का नियम तो नहीं बताते, किंतु उपधा लोप के उदाहरण प्रदर्शित करते हैं। 'गत्वा', 'गतम म मकार का लोप बताया। जग्मतु-जग्मु म उपधा लोप की चर्चा की। क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि वे शब्दो की आतरिक रचना या रूप निष्पत्ति के स्थूल नियमो का ज्ञान रखते हैं ?

६ २ ७ 'तत्त्वा यामि' मे यास्क ने वर्ण-लोप बताया, टीकाकारो ने बताया है कि यहाँ 'यामि' का मूल रूप है 'याचामि'। याच धातु का लट लकार उत्तम-पुरुष एकवचन का रूप है। 'याचामि' म चकार का लोप कर लिया। यह लोप उच्चारण-सौकर्य की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। चकार स पूववर्ती तथा परवर्ती आ-कार च के व्यवधान के कारण सुरक्षित थे। चकार के हटा देने पर ये दोनो आ कार मिलकर सवर्ण दीर्घ की प्रक्रिया स एक ही आ कार म परिणत

हो गए। इसी मान्यता के कारण यास्क ने इस शब्द में वर्णलोप' की स्थिति का वर्णन किया। हाँ, यह भी संभव है कि 'चा' अक्षर का (Syllable) ही लोप मान लें। प्राकृतों के विकास में इस प्रकार के वर्णलोप के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। संस्कृत के 'अक्षि' का विकास हिंदी में 'आंख के रूप में और हस्त' का विकास हाथ' के रूप में हुआ है। यहाँ भी वर्णलोप हुआ है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। यास्क के इस उदाहरण से भाषाविवेचन की सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है। किंतु यह ऐतिहासिक व्याकरण का क्षेत्र है।

६ २ ८ 'तृच' शब्द में यास्क ने द्विवर्णलोप की स्थिति मानी। यह शब्द एक समास है—त्रि=ऋच=तृच। समास में पूर्वपद इकारांत है—त्रि। इसमें तीन वर्ण हैं—त्+र+इ। अब समासावस्था में केवल तकार का श्रवण होता है, रेफ और इकार का लोप हो जाता है। द्विवर्णलोप के बाद निष्पन्न रूप है—तृच'। यहाँ लोप नहीं होता तो यणादेश हो जाता। तब पूर्वपद में तीन व्यंजनों का संयोग रहता—त+र+य्। स्पष्ट है कि ऐसे त्रि-व्यंजन संयोग का उच्चारण कठिन है, अतः उच्चारण-सौकर्य की दृष्टि से द्विवर्णलोप को स्वीकार किया। पाणिनि ने भी कुछ ऐसे शब्दों को संकलित किया जिनकी रूप निष्पत्ति व्याकरण के सामान्य नियमों से साधित नहीं हो पाती। प्रत्येक शब्द की निष्पत्ति के लिए अलग-अलग नियम बनाना भी कठिन है। अतः उन्होंने ऐसे शब्दों को एक 'गण' में रखकर कहा कि इस गण में पठित शब्दों को इसी रूप में ग्रहण करना चाहिए—"पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।" यास्क का वाक्य पाणिनि के सूत्र की भूमिका तैयार कर रहा है।

६ २ ९ यास्क ने बताया कि राजा, दंडी आदि शब्दों में उपधा का विकार देख सकते हैं। 'राजन्' और 'दंडिन' दोनों नकारांत प्रातिपदिक हैं। प्रथमा एकवचन में इनके रूप बनते हैं—'राजा', 'दंडी'। प्रथमा एकवचन का प्रत्यय है 'सु'। उसका उकार इत् है, सिर्फ सकार बचता है। राम हरि शंभु, वधू आदि अजंत प्रातिपदिकों में यही प्रत्यय विसर्ग के रूप में दिखाई देता है। किंतु हलंत प्रातिपदिकों में इस प्रत्यय का लोप होता है—हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्।' राजन्+स्=राजन्→राजान्→राजा। दंडिन्+स=दंडिन्→दंडीन्→दंडी। दोनों शब्दों में उपधा का दीर्घ हुआ है। राजन्' शब्द में पांच रूपों में अकार का दीर्घ होता है—राजा, राजानौ राजान, राजानम् राजानौ। प्रथमा विभक्ति के तीनों वचन तथा द्वितीया के एकवचन और द्विवचन 'सर्वनामस्थान कहलाते हैं 'सुडनपुंसकस्य'। सर्वनामस्थान के योग में नकारांत प्रातिपदिक की उपधा का दीर्घ विहित है—"सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ।' संबुद्धि का अर्थ है संबोधन प्रथमा का एकवचन। संबुद्धि में उपधा दीर्घ नहीं होता—हे राजन!
इन्' से अंत होनेवाले शब्दों में 'सु' प्रत्यय (प्रथमा एकवचन) में ही दीर्घ का

विधान है—"इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ", "सौ च"। दण्डी। ' अयम दोष नहीं मिलता— दण्डिनौ, दण्डिनः ' इत्यादि। यास्क ने प्रातिपदिक और सुप के योग में होने वाले इस विकार की चर्चा करके व्याकरण ज्ञान का और एक प्रमाण प्रस्तुत किया है। यह भी व्युत्पत्ति विज्ञान से बाहर का—रूप-रचना प्रक्रिया का—क्षेत्र है।

६ २ १० "अथापि वर्णोपजन " कहकर यास्क ने आगम के उदाहरण दिए हैं। पहला उदाहरण है— आस्थत'। यह दिवादि गण की क्रिया 'अस (असु क्षेपणे) के लुङ् लकार का रूप है। "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ", "आडजादीनाम्" इन सूत्रों से विकरणप्रत्यय 'अङ्' तथा 'आट्' का विधान किया गया है। आट एक आगम है। टित होने के कारण वह धातु से पूर्व (आद्यन्तौ टकितौ) जुड़ता है आ+अस्+अ+ति। यहाँ 'अस' धातु म अंत म 'थ'कार का आगम विहित है— 'अस्यतेः थुक्'। कित्त्वाद् तावयव। इस तरह थकार के आगम से रूप बना— 'आस्थत'।

६ २ ११ उपर्युक्त उदाहरणों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि यास्क व्याकरण का काफी गंभीर और विस्तृत अध्ययन करने के बाद ही निरुक्त की रचना में प्रवृत्त हुए। उनका ग्रंथ ऐसे प्रमाणों से भरा पड़ा है। हाँ, व्याकरण की सीमा के भीतर रहकर जहाँ शब्दों का निर्वचन करना संभव नहीं हुआ, वहाँ यास्क ने व्याकरण की परवाह न करते हुए स्वतंत्र ढंग से व्युत्पत्ति का प्रदर्शन किया है। किंतु यह प्रवृत्ति व्याकरण की उपेक्षा करने की नहीं है, अपितु यह केवल इस बात का संकेत है कि व्याकरण से भाषा के समस्त शब्दों की व्याख्या नहीं हो सकती। ऐसे अनियमित (Irregular) तथा अनाख्यात शब्दों का निर्वचन करना निरुक्त' की विशेषता है। अतः निरुक्त व्याकरण का पूरक है, वह व्याकरण का ही किंचित् विस्तार है। इस दृष्टि से हम निरुक्त को व्याकरण की एक विशिष्ट शाखा के रूप में मान सकते हैं।

■ यहाँ संक्षेप में 'निरुक्त' ग्रंथ का परिचय देना आवश्यक है। यह निघण्टु' की व्याख्या है। निघण्टु संसार का सर्वप्रथम शब्दकोश है। वैदिक शब्दों का संकलन करके निघण्टु बनाया गया। ऋग्वेद संसार का पहला ग्रंथ है। ऋग्वेद से पूर्व किसी भाषा में कोई ग्रंथ निर्मित नहीं हुआ था। कुछ श्रद्धालु लोग मानते हैं कि वेद अनादि तथा अपौरुषेय हैं। किसी व्यक्ति ने वेद की रचना नहीं की। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने वेदों का उपदेश दिया। श्वेताश्वतर उपनिषद का मंत्र कहता है कि ईश्वर ने सबसे पहले ब्रह्मा की सृष्टि की और उसे वेदों का ज्ञान दिया— 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' किंतु यह तो श्रद्धा और विश्वास की बात है। हम यह मानकर चलें कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों ने वेद-मंत्रों का प्रणयन किया। ये ऋषि विभिन्न काल-खंडों में विभिन्न देशों में हुए थे। इनकी रचनाओं का संकलन ही 'वेद' है। ऋग्वेद में

दस हजार से अधिक ऋचाओं का संकलन किया गया है। ऋग्वेद एक व्यक्ति की रचना नहीं है। कई ऋषियों द्वारा प्रणीत अनेक मंत्रों का संकलन ही ऋग्वेद के नाम से विख्यात है। अतः इस वेद की भाषा में कालकृत परिवर्तन के उदाहरण काफी संख्या में मिलते हैं। लगभग एक हजार वर्षों के दीर्घ काल में इस वेद के विभिन्न भागों की रचना हुई। अतः ऋग्वेद के एक भाग की भाषा दूसरे भाग की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। कई शब्द पहले प्रचलित थे, किंतु परवर्ती काल में उनका प्रचलन बंद हो गया और कुछ नये शब्द प्रयुक्त होने लगे। धीरे धीरे भाषा व्यवहार में परिवर्तन होता रहा। अब उत्तर वैदिक काल में वेदभाषा की व्याख्या करना कठिन होने लगा। शब्दों का सही अर्थ जानने के लिए परिश्रम करना पड़ा। ऐसी स्थिति में कुछ विद्वानों ने विचार किया कि जिन शब्दों का अर्थ हम काफी विचार विमर्श के बाद निश्चित करते हैं उनकी एक सूची तैयार कर दें तो आगामी पीढ़ी के लिए यह एक महान उपकार होगा। ऐसे विद्वानों ने वेदों के कुछ कठिन शब्दों का चयन करके एक पर्याय कोश के रूप में संग्रह किया। अनानार्थक तथा संदिग्धार्थक शब्दों का अर्थ निर्णय करके उनको सूचीबद्ध रूप में प्रस्तुत करना कोशविज्ञान के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास था। ऐसे कई निघंटु रचित हुए। यास्क ने कई आचार्यों का नामोल्लेख करते हुए विभिन्न प्रसंगों में उनके मतों की चर्चा की है। "इति नैरुक्ताः" कहकर एक निरुक्त-संप्रदाय का भी जिक्र किया है। यास्क के वचनों से प्रमाणित होता है कि उनसे पूर्व भी कई इस प्रकार के शब्दकोश निर्मित हुए थे, ऐसे कोश का 'निघंटु' कहते थे। कोश विज्ञान के अध्येता को 'नैघंटुक' कहते थे। निघंटु की व्याख्या का नाम 'निरुक्त' है।

७.१ आचार्य शाकपूणि का नाम यास्क ने स्मरण किया है। स्कंद स्वामी और आत्मानंद की टीका में उपलब्ध संकेतों से यह प्रमाणित होता है कि शाकपूणि ने एक निघंटु की रचना की और उसकी व्याख्या 'निरुक्त' के नाम से की थी। किंतु आज दुर्भाग्य से शाकपूणि का ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कई अन्य 'निघंटु' ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं। आज दो निघंटु ग्रंथ उपलब्ध हैं—(१) कौत्सव्य आचार्य का निघंटु और (२) वह 'निघंटु' जिस पर यास्क ने अपनी प्रसिद्ध व्याख्या लिखी है।

७.२ यास्क ने अपने ग्रंथ के आरंभ में लिखा है—"समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः।" इससे पता चलता है कि व्याख्येय शब्दकोश को वे 'समाम्नाय' के नाम से जानते हैं। समाम्नाय वेद का पर्याय है। वैदिक शब्दों के कोश को इसलिए 'समाम्नाय' कहना उचित ही है। फिर यास्क ने कहा—"तमिमं समाम्नायं निघंटव इत्याचक्षते।" कोश में संकलित शब्दों को 'निघंटु' कहते हैं। नि-पूर्वक 'गम' धातु का अर्थ है, संकलन करना। यास्क ने व्याख्या की है

"निघंटवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य

समाम्नाता । ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघटव उच्यन्त इति औपमन्यव ।"
(निरुक्त, १ १)

७ ३ दुग ने अपनी टीका म स्पष्ट किया है कि कोश म सकलित होने योग्य शब्दो की कोई सीमा नही है। अत कुछ ही शब्दों का सकलन किया गया है। किंतु निरुक्त मे ऐसे प्रसग प्राप्त शब्दो की भी व्याख्या की गयी है, जो कोश म सकलित नही है। दुर्गाचाय की टीका म ये शब्द द्रष्टव्य हैं

(१) ' नहि समाम्नानार्हाणामन्तोऽस्ति ।
तेषा सर्वेषा समाम्नान शास्त्रान्त एव न स्यात् ।"

(२) निवचनप्रसक्ताना च मृगवणदक्षिणालक्ष्मीनिघटुभद्राद्य शब्दप्रभृतीनामवमायाना निवचनापदेशात् ज्ञायते असमाम्नातव्याख्यानमपि अत्राभिमतमिति ।'

(दुर्गाचायकृत टीका, पृ० ५)

७ ४ 'निघटु' ग्रथ मे तीन खड या काड हैं। पहला खड है 'नैघटुक काड'। इसमें १३४१ (तेरह सो इकतालीस) पद सकलित है। इस काड म तीन अध्याय है। प्रत्येक अध्याय म कई ऐसे खड है जिनम एकार्थवाचक (पर्यायवाची) शब्दो का सकलन हुआ है। नैगम काड दूसरा है। इसम पदो की सख्या २७९ (दो सौ उन्यासी) है। इस काड म अनेकार्थक तथा अनात-व्युत्पत्तिक शब्द सगृहीत हैं। तीसरा है दैवतकाड । इसमे १५१ (एक सौ इक्यावन) देवतानाम सकलित हैं। इस प्रकार निघटु म सकलित शब्दो की सख्या १७७१ (सत्रह सौ इकहत्तर) है। इन शब्दो म नामपदो की सख्या सबसे अधिक है—१४१६ (चौदह सौ सोलह) नाम हैं। आख्याता की सख्या ३१३ (तीन सौ तेरह) है। ३९ (उनतालीस) निपात और तीन उपसर्ग सकलित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि निघटु म सकलित शब्दो की सख्या दो हजार से भी कम है। यह एक अत्यत लघुकाय शब्दकोश है।

७ ५ यास्क ने ही निघटु के सकलन का उद्देश्य इन शब्दो म बताया है

"साक्षात्कृतधर्माण ऋपयो बभूवु । तेऽवरभ्य असाक्षात्कृतधमभ्य उपदेशेन मन्त्रान सप्राद्रु । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इम ग्रन्थ समाम्नासिषु, वेद च वेदाङ्गानि च । (निरुक्त, १-२०) इसका अथ है कि प्राचीन काल क ऋषि अपनी तपस्या की शक्ति स उपदेश के बिना ही स्वय मन्त्रा का साक्षात्कार करते थे —ऋषिदशनात्। धम का मूल प्रमाण वेद ही है। अन्य सभी प्रमाण वेदमूलक हैं। इतिहास, पुराण, धमशास्त्र आदि ग्रथ स्मृति' क वग मे आते हैं। व श्रुति' पर आधारित होने के कारण परतत्र प्रमाण है। श्रुति प्रमाणान्तर-निरपेक्ष होने स स्वतत्र प्रमाण है। अत मत्रद्रष्टा ऋषियो ने धम का साक्षात्कार कर लिया

था। उनके बाद आनेवाले ऋषि स्वतन्त्र रूप से द्रष्टा नही थे। उन्होंने तो पूर्वजो के उपदेश से मन्त्रो का ज्ञान प्राप्त किया। उनके बाद की पीढी म आनेवाले पूर्ण रूप स वेदो को ग्रहण करन म असमर्थ थे। वेद तो अति विस्तृत है, पुरुषो की आयु अत्यल्प है। उपदेशाय ग्लायन्त का यही भाव है कि अल्पबुद्धि तथा अल्पायु पुरुषो को उपदेश देना कठिन है तथा उनके लिए ऐसे उपदेश का पूरा लाभ उठाना भी कठिन है। इस प्रकार के लोगो के हिताय निघंटु' के रूप म यह समाम्नाय ग्रथित हुआ। कई विद्वान निघंटु को भी यास्ककृत मानते हैं। कुछ लोगो का विचार है कि इस ग्रथ समाम्नासिषु के द्वारा यास्क न निघंटु को भिन्नकर्तृक बताया है। समाम्नासिषु' शब्द बहुवचन म है। अत प्रतीत होता है कि कई आचार्यों न अलग अलग शब्द-सूचियाँ तैयार की थी। अत म यास्क ने, अथवा और किसी आचार्य न, इन शब्दसूचियो को सकलित करके एक ग्रथ का रूप दिया। ये शब्द व्याख्या क बिना स्पष्ट नही हो सकते थे। कुछ शब्दो की व्युत्पत्ति अज्ञात थी। ऐसे पदो को अनवगत-सस्कार कहा गया है। कुछ शब्द अनर्थक थे। यह भी बताना आवश्यक था कि ये शब्द वेद म कहा, किस सदर्भ म प्रयुक्त हैं। इसलिए यास्क न इन शब्दो की व्याख्या करने के लिए निरुक्त' की रचना की। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्त कोश-विज्ञान, व्युत्पत्ति विज्ञान तथा अर्थ विज्ञान के क्षेत्र म एक महत्त्वपूर्ण कृति है और व्याकरण के साथ इस शास्त्र का घनिष्ठ सबध है।

= शिक्षा छह वेदागो मे एक है। वह ध्वनि विज्ञान का पर्याय है। उच्चारण प्रक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन शिक्षा म किया गया है। 'भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका' मे शिक्षा तथा प्रातिशाख्य पर दो निबध (पृ० २१६ से २२७ तक) सकलित हैं। डा० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है "वेदो के उच्चारण मे अशुद्धि न होने देने के लिए शिक्षा-ग्रथो की आवश्यकता का अनुभव हुआ था और परिणाम स्वरूप इनकी रचना की गयी थी। शिक्षा-ग्रथ कुल कितने थे—यह कहना तो कठिन है, किंतु आजकल लगभग ८० शिक्षा ग्रथ मिलते हैं' (भारतीय भाषा-विज्ञान की भूमिका, पृ० २१६)। डा० तिवारी ने कुछ शिक्षाग्रथो की नामावली दे रखी है। इनम से कई ग्रथ अभी तक अप्रकाशित है और पुस्तक भडारो मे हस्त-लिखित प्रतियो के रूप मे ही उपलब्ध है। कुछ नाम इस प्रकार है—याज्ञवल्क्य शिक्षा, लोमशी शिक्षा, नारदीय शिक्षा आदि। यह देखकर आश्चर्य होता है कि कितने ऋषियों और आचार्यों न ध्वनि विज्ञान के क्षेत्र म काम किया था! एलेन जैसे पाश्चात्य विद्वान भारतीय आचार्यों के इस महान् कार्य की मुक्त कठ म प्रशसा करते है।

८ १ पाणिनि के नाम से एक शिक्षा प्राप्त होती है। इस शिक्षा के अत म पाणिनि की प्रशसा म कुछ पद्य दिये गए हैं। एक पद्य उद्धत करते है

येनाक्षर - समाम्नाय
मधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्न व्याकरण प्रोक्त
तस्मै पाणिनये नम ॥

(पाणिनीय शिक्षा, ५७)

इसका अथ है कि पाणिनि ने महेश्वर से चतुदश सूत्रा के रूप म अक्षर समाम्नाय को प्राप्त करके उसीके आधार पर सपूण व्याकरण की रचना की। ऐसे महान् वैयाकरण को प्रणाम ! स्पष्ट है कि यह पाणिनि की रचना नही है, किंतु पाणिनीय परपरा के किसी आचाय ने यह ग्रथ बनाया होगा। इतना तो निर्विवाद है कि यदि इस प्रकार की शिक्षा का आधार नही होता तो अष्टाध्यायी के समान वैज्ञानिक व्याकरण की रचना करना सभव न होता। पाणिनि के कई सूत्रो म अच् अक इत्यादि प्रत्याहारो का उपयोग किया गया है। माहेश्वर सूत्रो मे उपदिष्ट वण ही इन प्रत्याहारो से सूचित होते हैं। 'अइउण्'—यह पहला माहेश्वर सूत्र है। इसम तीन स्वर गृहीत है— अ, इ और उ। तीनो ह्रस्व है। अत अण, अक, अच् अश आदि प्रत्याहारो मे ह्रस्व स्वर तो गृहीत हो सकते हैं। दीघ और प्लुत का ग्रहण कैसे होगा ? माहेश्वर सूत्रो म इन स्वरो के दीघ तथा प्लुत उपदिष्ट नही हैं। सवणदीघ का विधायक सूत्र है—' अक सवर्णे दीघ ।' यदि दीघ 'आ कार 'अक्' मे गृहीत नही है तो 'विद्या+आलय' म सधि कैसे हो सकती है ? इस कठिनाई के निवारण के लिए पाणिनि न व्यवस्था दी कि अण' तथा उदित' सवर्णों का भी ग्रहण करते हैं—"अणुदित सवणस्य चाप्रत्यय ।' अब 'सवण की परिभाषा देना आवश्यक है। पाणिनि न कहा कि जिन दो वर्णों के उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न समान हैं व आपस म 'सवण' कहलाते है—"तुल्यास्य प्रयत्न सवणम् ।" यह 'सवण' सज्ञा पाणिनीय व्याकरण म अत्यत महत्त्वपूण है और इस सज्ञा का अथ समझने के लिए वर्णों के उच्चारण स्थान और प्रयत्न का ज्ञान अनिवायत अपेक्षित है। कठ किन ध्वनियों का स्थान है ? विवत प्रयत्न किसका है ? इस ज्ञान को 'स्थानप्रयत्न विवेक' कहते हैं। इस विवेक के बिना अष्टाध्यायी का साथक अध्ययन हो ही नही सकता। अष्टाध्यायी म कही स्थान और प्रयत्न का उपदेश नही किया गया। पाणिनि यह मानकर चले है कि व्याकरण का विद्यार्थी शिक्षा का ज्ञान लेकर आया है। इसी अर्थ म हम शिक्षा को व्याकरण की आधार शिला मानते हैं। शिक्षा व्याकरण का प्रथम अग है।

८ २ शब्दो का सही उच्चारण भाषा-व्यवहार की सफलता के लिए एक आवश्यक ज्ञान है। ध्वनियो का गलत उच्चारण करें तो शब्द का रूप ही बदल जाता है। 'अश्व' का अथ है घोडा। यहाँ शकार तालव्य है। प्रमाद से तालव्य के स्थान पर दत्य सकार का उच्चारण करें, तो शब्द 'अश्व' न होकर 'अस्व' होगा।

'अस्व' का अर्थ है निधन। 'स्व शब्द' अनेकार्थक है, उसका एक अर्थ है धन'। अमरकोश में लिखा गया है—"स्वो ज्ञातावात्मनि स्व त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रिया धन।" न विद्यते स्व यस्य स =अस्व । यह नञ पूर्वपद बहुव्रीहि समास है। गरीब के अर्थ में 'अस्व' शब्द का प्रयोग ठीक है। उच्चारण की गलती के कारण, अश्व के स्थान पर अस्व का या अस्व के स्थान पर अश्व का बोध हो सकता है। विवक्षित अर्थ की प्रतीति में बाधा पडना ही एक दोष है। कभी कभी उच्चारण-दोष के कारण अर्थ का अनर्थ हो सकता है। शिव के स्थान पर शव का उच्चारण करें तो अनर्थ क्यों नहीं होगा ! किसी प्राचीन कवि ने कहा है कि यदि अन्य विद्याओं का अध्ययन करने की शक्ति या अवसर नहीं है तो भी कम से-कम व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए, अन्यथा अशुद्ध उच्चारण के कारण अनर्थ की प्राप्ति होगी—

यद्यपि बहु नाधीषे
तथापि पठ पुत्र व्याकरणम ।
स्वजन श्वजनो मा भूत
सकल शकल, सकृत शकृत ॥

स्वजन श्वजन, सकल शकल, सकृत शकृत आदि न्यूनतम शब्दयुग्म (minimal Pairs) हैं, जिनमें सिर्फ स श का भेद है। तालव्य शकार के कारण एक अर्थ का बोध होता है तो दन्त्य सकार के कारण दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। ऐसे कई शब्दयुग्म दिये जा सकते हैं। कल काल, कण काण, मन मान, सम साम आदि में केवल ह्रस्व और दीर्घ का भेद है। कर खर में अल्पप्राण और महाप्राण का भेद है। कर गर में अघोष और सघोष के भेद के कारण अर्थभेद होता है। संस्कृत में तो उदात्त आदि स्वर (accent) भी अर्थ की दृष्टि से भेदक थे। वैदिक भाषा में स्वर का महत्त्व निर्विवाद है। लौकिक संस्कृत में स्वर की भेदकता समाप्त हो गयी है। पाणिनीय शिक्षा में बताया गया है कि स्वर-दोष के कारण वृत्रासुर इन्द्र का हन्ता बनने के बजाय उसका वध्य बन गया। अत वर्ण या स्वर (उदात्तादि) में दोष हो तो वह शब्द अपने विवक्षित अर्थ से प्रच्युत होकर अनभीष्ट अर्थान्तर को उपस्थित कर देता है। इस प्रकार अनर्थ का प्रतिपादन करने से वह शब्द प्रयोक्ता के लिए हानिकारक ही सिद्ध होता है। इसे वाक् रूप वज्र कहते हैं। ऐसे दोषों से बचने का पूरा प्रयास करना चाहिए

दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात ॥

अत शिक्षा व्याकरण के एक अनिवार्य अंग के रूप में ग्राह्य है।

८ ३ शिक्षा ग्रथो के अलावा कुछ अन्य ग्रंथ भी ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनमें ध्वनि विज्ञान की चर्चा की गयी है। इन ग्रथो को 'प्रातिशाख्य' कहते हैं। वेदो की कई शाखाएँ हो गयी है। विभिन्न शाखाओं में उच्चारण या पाठ की कुछ विशेषताएं भी है। एक रोचक उदाहरण पतंजलि ने महाभाष्य में दिया है। एकार तथा ओकार का संस्कृत में ह्रस्व रूप नही मिलता। माहेश्वर सूत्रों में इनके दीर्घ रूप ही गृहीत हुए है। पतंजलि ने शका उठायी है कि सात्यमुग्रि तथा राणायनीय शाखाओं में ह्रस्व एकार तथा ह्रस्व ओकार भी मिलता है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि इन वर्णों के ह्रस्व नही होते? फिर शका के समाधान में कहा कि यह तो उस शाखा की एक विशेषता है। अन्यत्र 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व रूप कहीं नही है। अत वर्णसमाम्नाय में दीर्घ का पाठ उचित है

"ननु च भो छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारम् अर्धमोकारं चाधीयते', सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभि सुतम शुक्रं ते एन्यद यजतं ते एन्यत इति।

पारिषदकृतिरेषा तत्र भवताम्। नव हि लोके न अन्यस्मिन वेदे अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति।"

(महाभाष्य पस्पशाह्निक पृ० ११२-११३)

'पारिषद' शब्द की व्याख्या में उद्योतकार नागेश ने लिखा कि वेद की किसी शाखा के अध्येताओं का वर्ग परिषत् या पर्षद् है उस वर्ग की कृति पारिषद कृति है—

'शाखाविशेषाध्यायिनां समवाय परिषत पर्षद् वा। तत्र भवा कृतिरित्यर्थ ।"

(वही, पृ० ११३)

इस प्रकार कई शाखाओं में उच्चारण के कुछ भेद पाये जाते हैं। उनका निरूपण करने के कारण इन ग्रथो को 'प्रातिशाख्य' कहते हैं।

८ ४ प्रातिशाख्य ग्रथो में सधि की भी चर्चा की गयी है। अत इनमें शिक्षा तथा व्याकरण का मिश्रण पाया जाता है। उपलब्ध प्रातिशाख्यो की संख्या पन्द्रह से अधिक नही है। शिक्षा तथा प्रातिशाख्य का सबध क्या है? शिक्षा के आधार पर प्रातिशाख्य बने या प्रातिशाख्यो पर आधारित होकर शिक्षा ग्रथ बने? आज ये समस्त ग्रथ जिस रूप में उपलब्ध हैं उसका परिशीलन करने से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये ग्रथ अन्योन्याश्रित है। अत कालकृत पौर्वापर्य के विषय में कोई निर्णय देना सभव नही है। हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि शिक्षा और प्रातिशाख्य के समस्त ग्रथ व्याकरण की भूमिका तयार करने वाले सहायक ग्रथ हैं। शिक्षा और निरुक्त को हम व्याकरण के ही दो अंग मानते हैं 'प्रधानं च षट्सु अंगेषु व्याकरणम्।' पतंजलि का यह वाक्य अकाट्य तथ्य पर

आधारित है। व्याकरण तो अन्य विद्याओं के विकास के लिए भी आवश्यक है। अतएव शास्त्रप्रेमी विद्वान् एककंठ होकर स्वीकार करते हैं कि व्याकरण सब विद्या उपकारक है

काणाद पाणिनीय च
सर्वशास्त्रोपकारकम्।

ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन ने तो कहा है

'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा ।" यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य है कि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है।

८ ५ यास्क ने यहां तक कहा है कि जो व्याकरण का ज्ञाता नहीं है, उसे निरुक्त का उपदेश देना व्यर्थ है। उनका वाक्य है

नैकपदानि निर्ब्रूयात न अवैयाकरणाय, न अनुपसन्नाय अनिदंविदे वा।
(निरुक्त, अ० २ पाद १ खंड ३)

इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने लिखा है

यस्तावदवैयाकरणस्तस्मै न निर्वक्तव्योऽयं समाम्नायः। नहि असौ अलक्षणज्ञत्वात् व्युत्पाद्य निरुच्यमानमेतद् बुध्येत, ततो व्यर्थ एव श्रम स्यात।
(दुर्गाचार्यटीका पृ०१३६)

९ निघंटु की व्याख्या करने के लिए यास्क का धातु प्रकृति प्रत्यय, लोप, आदेश, आगम, निवृत्ति-स्थान, सम्प्रसारण आदि की चर्चा करनी पड़ी। उन्होंने इस प्रकार व्याकरणशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है कि हम उनसे पूर्ववर्ती वैयाकरणों के योगदान का असंदिग्ध प्रमाण मिलता है। स्वयं पाणिनि ने भी दस आचार्यों के नाम अष्टाध्यायी के सूत्रों में उद्धृत किए हैं। कुछ अन्य वैयाकरण भी हुए हैं। भाष्यकार ने कहा है कि सतत' शब्द में कुछ आचार्यों ने मकार लोप का विधान किया था—"समो वा लोपमेके।" पाणिनि ने ऐसा विधान नहीं किया। उनका एक सूत्र है—'अपरस्परा क्रियासातत्ये।' इस सूत्र में 'सातत्य' शब्द प्रयुक्त है सततस्य भाव सातत्यम्। इस प्रयोग से ज्ञात होता है कि 'सतत' शब्द में मकार का लोप पाणिनि को भी अभीष्ट था। 'आङो नाऽस्त्रियाम्", इस सूत्र में पाणिनि ने 'आङ्' प्रत्यय का निर्देश किया। किंतु उनके 'सुप' प्रत्ययों की सूची में तृतीया एकवचन का प्रत्यय टा' है, आङ्' नहीं। टीकाकार बताते हैं कि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के द्वारा गृहीत आङ्' का यहाँ उल्लेख किया है— 'आङिति टासना प्राचाम्।" इसी प्रकार एक अन्य सूत्र में पाणिनि ने 'औङ्' प्रत्यय का निर्देश किया है—' औङ आप ।' उनकी सूची में यह प्रत्यय नहीं है। प्रथमा के द्विवचन में 'औ' प्रत्यय है और द्वितीया के द्विवचन में औट' प्रत्यय है। यह 'औङ्' तो पूर्वाचार्यों से उक्त प्रत्यय है। इन उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट

होता है कि पाणिनि पर भी पूववर्ती व्याकरणो का प्रबल सस्कार पडा था।

६ १ पाणिनि के कुछ पारिभाषिक शब्द उन्ही के द्वारा कल्पित है। व सवथा निरथक हैं। पाणिनि द्वारा सकेतित अथ को ग्रहण करने पर ही व शास्त्र मे साथक बनत हैं। य शब्द प्राय एकाक्षर होते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते है

(१) अचोऽन्त्यादि टि।

(२) दाधा घु अदाप।

(३) शेषो घि असखि।

(४) यचि भम।

किंतु इसके विपरीत कुछ पारिभाषिक शब्द अनेकाक्षर हैं तथा य शब्द स्वतन्त्र रूप से कुछ अथ देते हैं। ऐसे शब्दो का 'महासज्ञा' कहत हैं। जैसे,

(१) अथवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम्।

(२) शि सवनामस्थानम।

(३) सर्वादीनि सवनामानि।

(४) इग यण सप्रसारणम।

भाष्यकार ने कहा कि ये अन्वथ सज्ञाएँ है। ये सज्ञाएँ व्याकरणिक परपरा मे गृहीत हो चुकी थी। अतएव पाणिनि ने भी लाघव की उपेक्षा करके परपरा प्राप्त सज्ञाओ को ग्रहण कर लिया।

६ २ 'आङ', 'ओङ' आदि प्रत्यय पूववर्ती व्याकरण मे उक्त थे। इससे प्रमाणित होता है कि पूर्वाचाय अनुबध-व्यवस्था से परिचित थे। पाणिनि ने कुछ वर्णों को 'इत कहा है—' उपदेशेऽजनुनासिक इत।" उपदेश म जो अच (स्वर) अनुनासिक है उसे इत' कहत है। 'तस्य लाप'—इत वण का लोप हो जाता है। इसका अथ है कि इतसज्ञक वण रूप-रचना की प्रक्रिया (morphological process)म भागी नही होता। तो फिर ऐसे एक वण का उच्चारण क्यो करें, क्यो उसका लोप विधान करें? उस वण का उच्चारण ही न करें, तो क्या हानि है? उत्तर यही है कि यह वण किसी विशेष प्रयोजन का सकेत देता है और ऐसा सकेत देना ही इसकी साथकता का आधार है। उदाहरण के लिए एध धातु को लें। पाणिनि ने धातु-पाठ म इसे अकारात रूप म निर्दिष्ट किया। 'एध' म अतिम अकार अनुदात्त और अनुनासिक है। अनुनासिक होने के कारण वह 'इत बनता हैं। अनुदात्त इत आत्मनपद का सकेत करता है— 'अनुदात्तङित आत्मनपदम। एधते एधेते, एधन्ते। "शेषात कतरि परस्मपदम्"—जो धातु अनुदात्तेत् या स्वरितेत् नहा है, उसम परस्मैपद प्रत्यय लगते हैं—भवति, भवत, भवन्ति। स्वरित इत् हा तो उस धातु म परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनो प्रकार के प्रत्यय लगते हैं। क्रियाफल कतृगामी हो तो आत्मनेपद प्राप्त है— "स्वरितञित कत्रभिप्राये

क्रियाफले।" वह परगामी है तो परस्मैपद प्राप्त है। अत ये धातु उभयपदी कहलाते है। यजति, यजत , यजन्ति—यह परस्मैपद का रूप है। यजते, यजेते, यजन्ते—यह आत्मनेपद का रूप है। यह सारी पद व्यवस्था 'इत' की व्यवस्था पर आधारित है। 'इत' का ही दूसरा नाम 'अनुबध' है। 'औड्' 'आङ आदि म पूर्वाचार्यों ने भी डकार को अनुबध के रूप मे रखा था। पाणिनि ने अपनी व्यवस्था मे 'औ' (प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन) और आ' (तृतीया के एक-वचन) को 'ङित' बनाना अनुचित समझा, क्योंकि 'ङित' प्रत्यय हो, तो 'घि' (इकारात अथवा उकारात) सज्ञक शब्दो का 'गुण' प्राप्त होता है— ' घेर्ङिति।" 'हरि' तथा 'शभु' शब्द को लें। ये दोनो 'घि' सज्ञक हैं—"शेषो घ्यसखि।" चतुर्थी एकवचन का प्रत्यय है 'ङे'। यह ङित् है। इस प्रत्यय का आदि डकार इत होता है—"लशक्वतद्धिते।' ङित प्रत्यय के कारण 'गुण' होता है, इकार का एकार तथा उकार का ओकार होता है। 'हरे+ए', 'शभो+ए'। एचोऽयवायाव। हरये, शभवे। पाणिनि ने देखा कि 'औ' तथा आ' को ङित बनाने पर यहाँ भी गुण की प्राप्ति होगी। वह तो अनिष्ट है। हरि+औ=हरी। शभु+औ= शभू। प्रथमा या द्वितीया के द्विवचन म पूर्वसवर्ण दीर्घ होता है—"प्रथमयो पूर्वसवर्ण।" गुण नही होता। तृतीया एकवचन म 'आ' के स्थान पर 'ना' का प्रयोग होता है "आङो नाऽस्त्रियाम।" हरि+आ→हरि—ना→हरिणा। शभु+आ→शभुना। यहा भी गुण नही होता। अत पाणिनि ने 'औ' तथा 'आ' को ङित नही बनाया। प्रथमा का द्विवचन 'औ' निरनुबधक है। द्वितीया का द्विवचन 'औट है। टकार को इत किया है। इससे प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन म भेद करना सभव है। इस टकार के अनुबध के कारण 'सुट' प्रत्याहार की रचना सभव है। सर्वनाम-स्थान सज्ञा के लिए 'सुट् प्रत्याहार अपेक्षित है—'सुडनपुसकस्य'। सर्वनामस्थान प्रत्यया म नकारात प्रातिपदिको की उपधा—अकार—का दीर्घ विहित है— "सर्वनामस्थाने चासबुद्धौ।" राजा, राजानौ राजान राजानम राजानौ—ये पाँच प्रत्यय (प्रथमा के तीन वचन और द्वितीया के दो वचन) सुट प्रत्याहार म आते हैं। अन्यत्र दीर्घ की प्राप्ति नही है। सर्वनामस्थानो को छोडकर अन्य प्रत्ययो के योग म प्रातिपदिक का ही पद' सज्ञा प्राप्त होती है—"स्वादिष्व-सर्वनामस्थाने' इस पदसज्ञा के कारण नकारात प्रातिपदिको के नकार का लोप होता है— 'न लोप प्रातिपादिका तस्य।" राजन+भिस = राजभिस = राजभि। ऐसे हजारो रूपो की निष्पत्ति के लिए 'सुट' प्रत्याहार अपेक्षित है। अत पाणिनि ने द्वितीया के द्विवचन को 'टित्' बनाया। पाणिनि न तो अपनी आवश्यकता के अनुसार सशोधन कर लिया, किंतु यह रोचक तथ्य उभरकर सामने आया कि अनुबध व्यवस्था का सूत्रपात पाणिनि से पूर्व ही हो चुका था।

६ ३ 'मतुप' एक तद्धित प्रत्यय है। यह स्वत्व (Possession) के अर्थ मे

की। टीका, टीका की टीका, फिर उसकी भी टीका इस क्रम से पाणिनीय व्याकरण पर विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। भट्टोजिदीक्षित ने छात्रों की सुविधा के लिए अष्टाध्यायी के सूत्र क्रम को बदलकर एक सरल ग्रंथ बनाया— 'वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी'। संक्षेप में इसे 'कौमुदी' कह सकते हैं। कौमुदी में दीक्षितजी ने अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों की यथा-प्रसंग व्याख्या की और लक्ष्य में लक्षण का समन्वय करके व्याकरण के छात्रों का महान उपकार किया। दीक्षितजी ने स्वयं कौमुदी की एक व्याख्या 'प्रौढ मनोरमा' के नाम से लिखी। कौमुदी पर तत्त्व-बोधिनी, बालमनोरमा आदि अन्य टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। भट्टोजिदीक्षित का एक और विशालकाय ग्रंथ है— 'शब्दकौस्तुभ' जिसमें महाभाष्य की पद्धति से अष्टाध्यायी की व्याख्या की गयी है। भर्तृहरि ने व्याकरण के दार्शनिक पक्ष की मीमांसा में एक अद्भुत ग्रंथ लिखा— 'वाक्यपदीयम्'। इस ग्रंथ से प्रेरणा लेकर कई लेखकों ने दार्शनिक पक्ष में संबंधित ग्रंथ लिखे। 'वैयाकरण भूषणसार' आदि ग्रंथ इसी वर्ग में आते हैं। नागेश के ग्रंथ 'शब्देन्दुशेखर' 'मंजूषा' 'परिभाषेन्दुशेखर' आदि संस्कृत व्याकरण के बहुमूल्य रत्न हैं। व्याकरण के विविध पक्षों पर इतना अधिक साहित्य आज उपलब्ध है कि देखकर विद्वान लोग चकित रह जाते हैं। एलेन का उद्गार है— पाणिनीय व्याकरण संप्रदाय में उपलब्ध ग्रंथों की संख्या १५०० (डेढ़ हजार) से भी अधिक है। इन सब ग्रंथों का विधिवत् अध्ययन करने के लिए एक पुरुषायुष पर्याप्त नहीं है। पाणिनि की अष्टाध्यायी की व्याख्या करने के लिए विपुल परिमाण में ग्रंथों की रचना हुई है। आज भी भारतीय तथा विदेशी विद्वान् पाणिनि के अध्ययन में लगे हुए हैं। इस स्थिति में हम अपनी अल्पज्ञता को स्वीकार करते हुए किन शब्दों में अष्टाध्यायी का मूल्यांकन करें? इतना ही कहना उचित है कि अष्टाध्यायी पाणिनि की प्रतिभा का एक अभूतपूर्व चमत्कार है।'

१०२ व्याकरण के प्रयोजनों में एक है 'लघु'। लघु का अर्थ है लाघव। व्याकरण के नियम आकार में छोटे हों और उनकी संख्या सीमित हो—यही लाघव का तात्पर्य है। किसी भाषा के व्याकरण में यदि दस लाख नियम दिए जाते हैं तो वह व्याकरण किसी काम का नहीं है। दस लाख नियमों को जानने, उनके उदाहरण प्रत्युदाहरण आदि का समझने तथा भाषा व्यवहार में उन नियमों का कार्यान्वयन करने के लिए किसके पास समय होगा? किसको इतनी धारणा शक्ति होगी? जहाँ तक हो सके, कम से-कम नियमों से भाषा के रहस्य का समाधान का प्रयास करना चाहिए। इसीलिए भाष्यकार ने लाघव को व्याकरण का एक प्रमुख प्रयोजन कहा—"रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्। × × लघ्वर्थं अध्येयं व्याकरणम्" (पस्पशाह्निक)। किंतु लाघव का अर्थ यह नहीं होता कि आवश्यक नियमों का प्रतिपादन नहीं किया जाय, तब तो व्याकरण

स भाषा नान की प्राप्ति म सहायता नही मिलेगी। ऐसा व्याकरण अपूर्ण होगा। अपूर्णता के दोष से बचकर लाघव का लक्ष्य प्राप्त करना ही वैयाकरण की सफलता की कसौटी है। कम स-कम शब्दो मे अधिक-से-अधिक अथ को भरने का प्रयास लाघव के लिए ही किया जाता है। पाणिनि सम्प्रदाय क वैयाकरणा म यह उक्ति प्रचलित है कि सूत्र म यदि आधी मात्रा का भी लाघव सिद्ध हा तो य पुत्र जन्म से होने वाला हष अनुभव करत हैं—'अधमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा ।' वण समाम्नाय का आधार ग्रहण करने क कारण पाणिनि अष्टाध्यायी मे लाघव की रक्षा कर सके। यह सत्य है कि पाणिनि ने लगभग चार हजार सूत्र बनाये, किंतु इस सख्या के कारण गौरव का दोष प्राप्त नही होता। इन सूत्रों मे एक भी ऐसा नही है जिसे छोडने पर भी काम चल सके। सस्कृत भाषा की रूप रचना काफी जटिल है। गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण, लोप, आगम आदि की ऐसी परस्पर सापेक्ष व्यवस्था है कि उसको ठीक तरह से समझाने के लिए इतने सूत्र नियम अनिवाय रूप स अपेक्षित है। इनम स किसी नियम को हटा देना अपूर्णता के दोष का कारण बनेगा। अत पाणिनि के चार हजार सूत्र निम्नतम (minimun) आवश्यकता की पूर्ति करते है। हा, कुछ सूत्रो का निराकरण कात्यायन और पतजलि ने किया है। इससे क्या सिद्ध होता है? चार हजार सूत्रा के विशाल ग्रथ म यदि हम किसी प्रकार सौ सूत्रो का प्रत्याख्यान कर देते हैं, तो क्या इसस लाघव की सिद्धि होती है? तीन हजार नौ सौ सूत्र स्वीकृत हो, तो क्या गौरव का दोष नहीं होगा? और, कात्यायन या पतजलि ने इन सूत्रों का प्रत्याख्यान किस लिए किया? क्या लाघव के लिए प्रत्याख्यान किया गया है? प्रत्याख्यान क कारण कुछ और है। चार हजार सूत्र तो सस्कृत भाषा की सरचना के वनानिक अध्ययन क लिए आवश्यक हैं। यह भी लाघव ही है, जो अपूर्णता से मुक्त होन के कारण ही ग्राह्य बन सका है।

१० ३ इस लाघव की सिद्धि म वण समाम्नाय का पात्र क्या है? कुछ उदाहरणा पर विचार करने से इस बात का स्पष्टता के साथ समझना शक्य होगा।

१० ३ १ सस्कृत म सधि होती है। दो वर्णों के सहभाव के कारण कभी कभी वण-विकार उत्पन्न होता है। एस विकार को सधि कहते हैं। उदा०—सूय + उदय = सूर्योदय। यहा अकार क बाद उकार आया तो इन दोना वर्णों के स्थान म 'ओ कार आदेश हो गया। इस गुण सधि कहते हैं।

१० ३ २ कहीं कही कोइ विकार नही होता। सूयस्य + रश्मय। समास करें तो रूप बनता है—सूयरश्मय। समास के कारण यहा कोई विकार नही हुआ है। 'गुरुकुलम', 'राजकुमारी' देशभक्ति' आदि कई उदाहरण हैं। इन शब्दा म सधि नही है।

१० ३ ३ अब हम एक वाक्य खण्ड पर विचार करें। दवा + अत्र = देवा

अत्र। इस उदाहरण में इतना तो स्पष्ट दीखता है कि 'देवा' में जो विसर्ग था, उसका लोप हो गया। लोप का विधायक सूत्र है—'लोपः शाकल्यस्य"। इस लोप के बाद यहाँ सवर्ण-दीर्घ संधि प्राप्त है। वह संधि नहीं होती—'देवा अत्र' में दीर्घ आकार और उसके बाद का ह्रस्व अकार ज्यों के-त्यों बने रहते हैं। उनका सवर्ण दीर्घ नहीं होता। विद्या + अभ्यास' तो दीर्घ संधि के कारण 'विद्याभ्यास' बन जाता है। उसी प्रकार 'देवा + अत्र' 'देवात्र' नहीं बनता। लोप के बाद स्वरसंधि का निषेध करना अभीष्ट है।

१०३४ इसी प्रकार, 'देवा + इमे' का रूप बनता है—'देवा इमे'। 'जना + उत्तिष्ठन्ति = जना उत्तिष्ठन्ति'। 'मम सखाय + एते = मम सखाय एते'। 'नरा + हसन्ति = नरा हसन्ति'। इन सभी पद बन्धों में प्रथम पद के अन्त में विसर्ग है। किन्तु उसका लोप कर देते हैं। 'देवा इमे' में गुण प्राप्त है। 'जना उत्तिष्ठन्ति' में भी आकार के बाद उकार होने से गुण प्राप्त है। 'मम सखाय एते' में वृद्धि प्राप्त है। लोप के कारण गुण वृद्धि आदि संधियाँ की प्रवृत्ति नहीं है।

१०३५ अब इन सभी उदाहरणों पर विचार करने के बाद वैयाकरण को बताना चाहिए कि *लोप का नियम क्या है? किस परिस्थिति में विसर्ग का लोप होता है?* फिर, लोप के बाद के क्या संधि निषेध करना उचित होगा? 'गौरी' शब्द में प्रातिपदिक (nominal stem) ईकारान्त है। उसके बाद प्रथमा एक वचन का प्रत्यय 'सु' लगा—गौरी + सु। प्रत्यय का उकार अनुनासिक है, अतः वह 'इत्' बनता है— 'उपदेशे जनुनासिक इत्।' 'इत्' संज्ञा के कारण उकार का लोप हो जाता है— 'तस्य लोपः।" गौरी + स्। अब स्त्री प्रत्ययान्त गौरी शब्द के बाद आने के कारण स् का लोप होता है—' हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्।' गौरी + इयम = गौरीयम। लोप के बाद भी यहाँ सवर्ण दीर्घ हो गया है। गौरी + अत्र = गौयत्र। यहाँ ईकार के स्थान में यकार हुआ, यह 'यण संधि' का उदाहरण है। इसलिए प्रश्न उठता है कि क्या सामान्य रूप से लोप के बाद स्वर-संधि का निषेध करना उचित होगा? यदि 'गौरीयम', 'गौयत्र' आदि में लोप के बाद भी संधि करना ठीक है, तो उसी प्रकार 'देवा अत्र, देवा इमे, देवा उत्तिष्ठन्ति, देवा एते' आदि में सवर्णदीर्घ, गुण संधि आदि करने में क्या बाधा है? पाणिनि के सामने यह समस्या आयी।

१०३६ पाणिनि ने लोप का नियम बताया— "लोपः शाकल्यस्य" (८ ३ १९)।

अष्टाध्यायी में यह अष्टम अध्याय के तृतीय पाद में उन्नीसवाँ सूत्र है। इसके पूर्व के दो सूत्र इस प्रकार हैं—

(i) भोभगोअघो अपूर्वस्य योऽशि। (८ ३ १७)

(ii) व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य। (८ ३-१८)

इन सूत्रों के बाद प्रकृत सूत्र 'लोपः शाकल्यस्य' आया है। अतः पूर्व सूत्रों से कुछ आवश्यक पदों का उधार लेकर (सूत्रान्तर से पदों को लेना 'अनुवृत्ति' है—सूत्रस्थपूर्वपद सूत्रान्तरादनुवर्तनीयम।) इस सूत्र की व्याख्या की जाती है—

"अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोः यवयोः वा लोपः अशि परे।" (सिद्धान्तकौमुदी)

इस वाक्य का अर्थ है— पदान्त यकार और वकार के पूर्व अवर्ण हो और उनके बाद (परे) 'अश्' वर्ण हो, तो उनका लोप विकल्प से होता है।' इस सूत्र में आचार्य शाकल्य का नाम लिया गया है। वे लोप का समर्थन करते हैं। कुछ अन्य आचार्यों के मत से यहाँ लोप नहीं होता। अतः विकल्प फलित है।

१० ३ ७ यह 'अश्' क्या है? यह एक प्रत्याहार है। संक्षिप्त संकेत (abbreviation) को इस शास्त्र में 'प्रत्याहार' कहते हैं। माहेश्वर सूत्र नीचे दिए जाते हैं—

अइउण्। ऋलृक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषसर्। हल्। ये चौदह माहेश्वर सूत्र हैं। इन सूत्रों के अन्त्य व्यंजन इत् हैं—'हलन्त्यम्।' कोई पूर्ववर्ती वर्ण परवर्ती 'इत्' से जुड़कर प्रत्याहार बन सकता है— आदिरन्त्येन सहेता।' यह प्रत्याहार पूर्ववर्ती वर्ण का और उससे लेकर इत्' तक बीच में पड़ने वाले समस्त वर्णों का संकेत या पारिभाषिक संज्ञा है। उदाहरण के लिए 'अक्' एक प्रत्याहार है। अकार परवर्ती इत् 'क्' से मिलकर अक् प्रत्याहार का रूप धारण कर लेता है। अक् अकार का तथा बीच में पड़ने वाले इ उ ऋ तथा लृ का संकेत है। 'अइउण्' सूत्र का णकार भी इस प्रत्याहार में प्रविष्ट है, किन्तु 'इत्' संज्ञक वर्ण होने के कारण प्रत्याहार में उसका ग्रहण नहीं होता—प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्। —परवर्ती वर्ण का पूर्ववर्ती इत् के साथ प्रत्याहार नहीं बन सकते। 'लक्' प्रत्याहार नहीं बन सकता। लण् के लकार को 'ऋलृक्' के क् से मिलाकर प्रत्याहार बनाने की अनुमति नहीं है। परवर्ती इत् के साथ ही प्रत्याहार हो सकता है। प्रत्याहार के अन्त में 'इत्' होना जरूरी है। 'अभ्' प्रत्याहार नहीं हो सकता। 'झभञ्' में भकार इत् नहीं है। इस पद्धति के अनुसार अश् प्रत्याहार बना है। 'अइउण्' के आकार के साथ 'जबगडदश्' के शकार (इत्) को मिलाकर अश् बनाया गया है। अतः अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द—इन २९ (उनतीस) वर्णों का ग्रहण इस प्रत्याहार में होता है। पहले नौ स्वर हैं। दसवाँ हकार है। उसके बाद चार अन्तस्थ हैं, फिर पाँचों वर्गों के पंचम, चतुर्थ और तृतीय वर्ण हैं, जिनकी संख्या पन्द्रह है। इन २९ वर्णों में एक परवर्ती होगा, तो लोप होगा। अन्यत्र लोप नहीं होगा। देवा + कथयन्ति। देवा + चरन्ति। जना + छादयन्ति।

नरा + पिबन्ति। नरा + शेरते—इन पद युग्मों में लोप की प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि परवर्ती वर्ण 'अश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं है। 'देवा + हसन्ति। नरा + भक्षयन्ति। जना + गच्छन्ति। मृगा + धावन्ति। बालका + मोदन्ते। पण्डिता + बोधयन्ति। नृपा + जयन्ति—इन पदयुग्मों में लोप होता है क्योंकि परवर्ती वर्ण 'अश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत है। 'अश्' प्रत्याहार का प्रयोग न करें, तो इस नियम को 'लघु रूप' में प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे। प्रत्याहार को छोड़ दें तो यों कहना पड़ेगा—"यदि कोई स्वर अथवा वर्ग का तृतीय, चतुर्थ या पंचम वर्ण अथवा हकार परवर्ती हो, तो लोप होगा।" 'अश्' प्रत्याहार के कारण नियम की रचना में 'लाघव' मिला।

१०.३.८ पदान्त यकार अथवा वकार का लोप होता है। पदान्त न हो, तो उसका लोप नहीं होता। अयम्। सायम्। नावान्। भवानी। इन शब्दों में यकार तथा वकार के पूर्व अवर्ण है और बाद में 'अश्' वर्ण भी है। किन्तु इन शब्दों के यकार और वकार पद के मध्य में हैं, पदान्त नहीं हैं, अतः यहाँ लोप की प्राप्ति नहीं है।

१०.३.९ यकार या वकार के पूर्व अवर्ण हो तो लोप होता है। यदि अवर्ण से भिन्न कोई स्वर या व्यंजन हो, तो वहाँ लोप नहीं होता। दधि + अन्न = दध्यन्न, मधु + अन्न = मध्वन्न। यहाँ 'यण्' सन्धि के कारण इकार के स्थान में यकार तथा उकार के स्थान में वकार हुआ है—'इको यणचि।' दध्य + अन्न में पहला पद है 'दध्य्'। यहाँ यकार पदान्त है। 'मध्व + अन्न' में पहला पद है 'मध्व्'। यहाँ वकार पदान्त है। परवर्ती अकार तो 'अश्' है ही किन्तु यकार तथा वकार से पूर्व धकार है, अवर्ण नहीं। अतः पदान्त होने पर भी इन उदाहरणों में यकार और वकार का लोप नहीं होता।

१०.३.१० सूत्र में पाणिनि ने 'अपूर्वस्य' कहा है। "भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि।" अपूर्व का अर्थ है—'अः पूर्वो यस्मात् सः।' यहाँ जिस 'अ' का उच्चारण किया गया है, वह तो ह्रस्व है। किंतु इस ह्रस्व अकार से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक तथा अननुनासिक—सभी प्रकार के अकारों का ग्रहण विवक्षित है। अकार का स्थान कण्ठ है, प्रयत्न विवृत है। अतः सभी अकार परस्पर सवर्ण हैं—"तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्।" पाणिनीय व्याकरण में अण् (अकार का 'लण्' सूत्र के णकार के साथ प्रत्याहार किया है—अत्रैव अण् परेण णकारेण।) सवर्णों के ग्राहक बनते हैं—"अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः।" अतः पदान्त यकार और वकार के पूर्व अकार ह्रस्व हो या दीर्घ हो, उदात्त हो या अनुदात्त, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'राम + इति = राम इति। राम + एव = राम एव।' इन उदाहरणों में पदान्त यकार से पूर्व का अकार ह्रस्व है। 'देवा + इति = देवा इति। देवा + एते = देवा एते। इन उदाहरणों में यकार का पूर्व

वर्ती आकार दीर्घ है। सर्वत्र यकार का लोप हुआ है। सवर्णों का ग्रहण बनाने वाला सूत्र है ग्रहणकशास्त्र। उसमें 'अण्' प्रत्याहार निर्दिष्ट है। अतः यह लाघव भी वर्ण समाम्नाय के आधार पर ही सिद्ध हुआ है।

१०.३.११ अब तक लोप के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें सर्वत्र 'रामः, देवाः, नराः, जनाः' आदि शब्दों में विसर्ग ही दिखाया गया है। किंतु पाणिनि के सूत्र में यकार और वकार के लोप का विधान किया गया है। विसर्ग लोप की चर्चा तो नहीं की गयी। अतः पाठकों को शंका हो सकती है कि "लोपः शाकल्यस्य" इस सूत्र से विहित लोप के ये उदाहरण कैसे हो सकते हैं? इस शंका का उत्तर है कि पूर्वोक्त इन सभी उदाहरणों में वस्तुतः यकार का ही लोप हुआ है। 'रामः, देवाः, जनाः' आदि शब्दों—को हम विसर्गान्त रूप में लिखते हैं। किंतु ये पद मूल रूप से विसर्गान्त नहीं हैं। इनका रूप सकारान्त है। प्रथमा एकवचन का प्रत्यय 'स्' (सकार) है। अतः 'रामस्' मूल रूप है। प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय है 'अस्'। अतः बहुवचन के शब्द भी मूलतः सकारान्त हैं। देवास्, जनास्, नरास्, मगास् इत्यादि। किंतु पदान्त सकार के स्थान पर रेफ का आदेश विहित है—"ससजुषो रुः"। इसे 'रुत्व' कहते हैं। हरिरिच्छति, गुरुर्वदति' [हरिस्+गच्छति=हरिर् गच्छति। गुरुस्+वदति=गुरुर् वदति) इत्यादि में रेफ का ही श्रवण होता है। किंतु पदान्त रेफ के बाद किसी वर्ण का उच्चारण नहीं हो, तो रेफ के स्थान पर विसर्ग होता है— 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः।" इस कारण से सकारान्त पदों का विसर्गान्त बनाकर लिखा जाता है। किंतु पदों में मूल रूप में विसर्ग नहीं रहता, वे सकारान्त हैं।

१०.३.१२ यकार और वकार का लोप बताने में पाणिनि का एक और अभिप्राय लक्षित होता है। नीचे एक वाक्य उद्धृत कर रहे हैं, जिसे पतंजलि ने भाष्य के पस्पशाह्निक में दिया है—

'तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।'

इस वाक्य में 'म्लेच्छो ह वा एष' पर विचार करें। इस अंश में चार पद हैं—म्लेच्छः, ह, वै, एषः। इस वाक्य का अर्थ है कि अपशब्द को म्लेच्छ कहते हैं। वै+एषः=वा एषः'। यहाँ क्या विकार हुआ? 'वै' अव्यय है। उसका अंतिम स्वर ऐकार है। ऐकार के बाद एषः का एकार आया है। एचोऽयवायावः।—ऐकार के बाद अच् (स्वर) हो तो उसके स्थान पर आय्' का आदेश होता है। नै+अक=नायक। इसी प्रकार वै+एषः=वाय्+एषः। आयादेश के बाद वाय् पद यकारान्त बना। इस पदान्त यकार से पूर्व दीर्घ आकार है। परवर्ती वर्ण एकार 'अश्' में आता है। अतः यकार का लोप हुआ है—"म्लेच्छो ह वा एषः।"

उसके स्थान में उत्व होता है। एपस्+अत्र→एपर्+अत्र→एप+उ+अत्र। 'एप+उ'—यहाँ गुण होता है—'एपो। "एङः पदान्तादति।" पदान्त एकार तथा ओकार के बाद ह्रस्व अकार हो तो पूर्वरूप का विधान है—एपोऽत्र। ऐसे उदाहरण सैकड़ों मिलते हैं—रामोऽयम् सर्गोऽपि इत्यादि। उत्व का नियम भी 'हश्' प्रत्याहार के आधार पर बना है।

१०.३.१५ संस्कृत में पदान्त विसर्ग की स्थिति का सम्यक् निरूपण एक जटिल प्रश्न है। विसर्ग से पूर्व ह्रस्व अकार है तो उसकी स्थिति भिन्न होती है। परवर्ती वर्ण भी ह्रस्व अकार हो तो 'ओ' का श्रवण होता है। राम+अयम्= रामोऽयम्। परवर्ती वर्ण ह्रस्व अकार से भिन्न कोई स्वर हो तो विसर्ग का लोप होता है। राम+आगत=राम आगत। राम+इति=राम इति। राम+उवाच=राम उवाच। परवर्ती वर्ण हश् हो तो 'ओ'कार आता है। राम+हसति=रामो हसति। राम+गच्छति=रामो गच्छति। राम+जयति =रामो जयति इत्यादि। परवर्ती वर्ण ककार या खकार है तो विसर्ग ही रहता है या उसके स्थान पर जिह्वामूलीय होता है। राम करोति' अथवा 'राम ꣵ करोति'। चकार या छकार परवर्ती है तो विसर्ग के स्थान पर तालव्य शकार का उच्चारण होता है। राम+चरति=रामश्चरति। राम+छात्र=रामश्छात्र। परवर्ती वर्ण टकार या ठकार है तो षकार—मूर्धन्य—का आदेश होता है। राम+टीकते=रामष्टीकते। परवर्ती वर्ण तकार या थकार है तो दन्त्य सकार ही रहता है—राम+तत्र=रामस्तत्र। पकार या फकार परे में हो तो विसर्ग ही रहता है या उसके स्थान पर उपध्मानीय होता है। राम+पचति=राम ꣶपचति अथवा राम पचति। वृक्ष+फलति=वृक्ष ꣶफलति अथवा वृक्ष फलति। परवर्ती वर्ण श, ष अथवा स है तो विसर्ग के स्थान पर क्रम से श, ष, स का आदेश होता है अथवा विसर्ग ही रहता है। राम+शेते=रामश्शेते अथवा राम शेते। बालक +षष्ठ=बालकष्षष्ठ अथवा बालक षष्ठ। राम+साधु=रामस्साधु अथवा राम साधु। परवर्ती श, ष, स (शर्) के पूर्व खर् (वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण और श, ष, स) हो तो विसर्ग ही रहता है। धनाघः क्षोभण। राम क्षुभ्यति। श्रेष्ठ स्तर। परवर्ती वर्णों में पहला शर् और बाद का खर हो तो विसर्ग का विकल्प से लोप होता है। राम+स्थाता=राम स्थाता अथवा रामस्स्थाता अथवा राम स्थाता। यदि विसर्ग से पूर्व दीर्घ आकार हो तो 'अश्' वर्ण (परवर्ती) के योग में विसर्ग का लोप होता है। यह लोप 'अच्' के साथ तो वैकल्पिक है किंतु 'हल्' के साथ नित्य है। देवा+इति=देवा इति अथवा देवा यिति। नरा+ एते=नरा एते अथवा नरा यते। बालका+गच्छन्ति=बालका गच्छन्ति। यदि विसर्ग से पूर्व अकार से भिन्न और कोई स्वर हो तो 'अश्' (परवर्ती) के योग में विसर्ग के स्थान पर रेफ का श्रवण होता है। हरि+अयम्=हरिरयम्। लक्ष्मी+

आगता=लक्ष्मीरागता। वधू +एता =वधूरेता । देवै +अपि=दवरपि। तैं +ऽष्टम=तैंदृष्टम। गुरु +भाषते=गुरुर्भाषते। नदी + मानयति=नदी मानयति। किंतु जब परवर्ती वर्ण खर् होगा तब पूर्वोक्त व्यवस्था के अनुसार जिह्वामूलीय आदि आदेश होंगे। नदी पश्यति, नदी ॑पश्यति। हरि करोति, हरि ॅ करोति। गुरु कथयति गुरु ॅ कथयति इत्यादि। इन समस्त विकारों की व्यवस्था वैज्ञानिक ढंग से बताने का काम पाणिनि ने निम्नलिखित कुछ सूत्रों के द्वारा किया—

१ अतो रोरप्लुतादप्लुते।
२ हशि च।
३ भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि।
४ लोपः शाकल्यस्य।
५ हलि सर्वेषाम।
६ कुप्वो ॅ क ॅ पौ च।
७ विसर्जनीयस्य स ।
८ स्तो श्चुना श्चु ।
९ ष्टुनाष्टु ।
१० वा शरि।
११ शर्परे विसर्जनीय ।
१२ ससजुषो रु ।
१३ खरवसानयोर्विसर्जनीय ।

इन सूत्रों के अलावा वार्तिककार ने अपनी ओर से एक नियम बताया—

१४ "खपरे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्य ।"

१०.३.१६ विसर्ग की स्थिति का सामान्य निरूपण करने के लिए उपर्युक्त चौदह नियम आवश्यक हुए। किंतु कहीं सत्व (सकार) होता है तो कहीं षत्व होता है। नमस्कार, तिरस्कार पुरस्कार आदि शब्दों में सत्व होता है। आविष्कार, निष्प्रत्यूह, सर्पिष्काम्यति इत्यादि शब्दों में षत्व होता है। ऐसे विशिष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिए विशेष नियम बनाने की आवश्यकता थी। अत पाणिनि ने सत्व तथा षत्व की व्यवस्था कुछ सूत्रों में बतायी—'(१) सोऽपदादौ। (२) इण ष । (३) नमस्पुरसोर्गत्यो । (४) इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" इत्यादि सूत्रों का निर्माण किया। इससे सिद्ध होता है कि संस्कृत भाषा का वैज्ञानिक वर्णन करने में वर्ण समाम्नाय के आधार पर प्रत्याहारों की रचना के कारण पाणिनि को 'लाघव' प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिली।

१०.३.१७ अब एक और प्रश्न रह गया। 'देवा एते राम इति, नरा अपि इत्यादि में लोप के बाद स्वर-संधि (गुण, दीर्घ वृद्धि) क्यों नहीं होती?

पाणिनि ने कहीं ऐसा निषेधात्मक नियम नहीं बनाया कि लोप के बाद संधि नहीं होगी। 'गौरीयम नद्यपि' इत्यादि में लोप ('सु' प्रत्यय लोप) के बाद संधि कार्य हुआ है। तो इस समस्या का समाधान कैसे करें? पाणिनि ने इसका भी एक अपूर्व (unprecedented) उपाय खोज निकाला। उन्होंने एक विशेष सूत्र की रचना की—"पूर्वत्रासिद्धम्।" इसे 'अधिकार-सूत्र' कहते हैं। 'अधिकार' का अर्थ यह होता है कि यह सूत्र परवर्ती सूत्रों में अन्वित होकर एकवाक्यता से अर्थ देता है। 'स्वरितेनाधिकारः।' कुछ सूत्रों में कुछ शब्दों की ही 'अनुवृत्ति' की जाती है। उदाहरण के लिए, 'एचोऽयवायावः' इस सूत्र में इतना ही बताया गया है कि 'एच् के स्थान पर अय्' आदि आदेश होते हैं। किंतु यह नहीं बताया गया कि ये आदेश किस स्थिति में होते हैं? आदेश का निमित्त क्या है? तब, 'इको यणचि' इस पूर्व सूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति कर लेते हैं। अब वाक्य पूर्ण होता है और उसका अर्थ बनता है—'अच् वर्ण परवर्ती हो तो एच् के स्थान पर अयादि आदेश होते हैं।' ऐसी अनुवृत्ति एक या एकाधिक पदों की होती है। किंतु अधिकार तो पूरे सूत्र का होता है। 'प्रत्ययः' एक अधिकार सूत्र है। यह तृतीयाध्याय के प्रथम पाद का प्रथम सूत्र है। इसके बाद का सूत्र है—"परश्च।" यह तृतीयाध्याय के प्रथम पाद का द्वितीय सूत्र है। ये दोनों सूत्र पंचमाध्याय की समाप्ति तक प्रत्येक सूत्र के साथ अन्वित होते हैं। तृतीय, चतुर्थ और पंचम अध्याय में जो कुछ विहित है, उसे 'प्रत्यय' की संज्ञा प्राप्त होती है और वह धातु या प्रातिपदिक (प्रकृति=stem) के बाद ही लगता है। इसी प्रकार 'अंगस्य' एक अधिकार सूत्र है। यह षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद का प्रथम सूत्र है। सप्तमाध्याय की समाप्ति तक प्रत्येक सूत्र में 'अंगस्य' उपस्थित होता है, अतः इसे अंगाधिकार कहते हैं। इन अधिकार सूत्रों की व्याप्ति कहाँ तक होती है? कुछ स्थानों में पाणिनि ने परवर्ती सीमा का भी निर्देश किया है—'प्राग्रीश्वरान्निपाताः।' 'अधिरीश्वरे' तक यह 'निपाताः' का अधिकार रहेगा। कुछ स्थानों में सीमा का निर्देश सूत्रकार ने नहीं दिया। वहाँ परंपरागत व्याख्यान ही प्रमाण माना जाता है—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्।' भाष्यकार की व्याख्या को ही हम निर्णायक प्रमाण मानते हैं। 'पूर्वत्रासिद्धम्' का अधिकार अष्टमाध्याय के अंत तक—'शास्त्र परिसमाप्ति पर्यन्त'—बताया गया है। यह सूत्र अष्टमाध्याय के द्वितीय पाद का प्रथम सूत्र है ८ २ १। अतः यह अष्टमाध्याय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों के प्रत्येक सूत्र में संबद्ध होता है और एक वाक्यता से अर्थ देता है।

१० ३ १८ पूर्वत्र असिद्धम्। सूत्र में केवल दो शब्द हैं। पूर्वत्र=पूर्व शास्त्र के विषय में। 'त्रल्' एक तद्धित प्रत्यय है जो सप्तमी के अर्थ में विहित है। असिद्धम् =अविद्यमान है। जो विद्यमान नहीं है उसको अविद्यमान समझना चाहिए।

किसको असिद्ध (inoperative, to be ignored) मानना चाहिए ? 'पूवत्र' के सामथ्य से मालूम होता है कि 'पर' को असिद्ध मानना चाहिए—"पूवस्मिन शास्त्र कत्तव्ये पर शास्त्रमसिद्ध स्यात।" यहाँ पूव शास्त्र' का क्या अथ हो सकता है ? अब तक अष्टाध्यायी ग्रथ के सात अध्याय और अष्टम अध्याय का प्रथम पाद पूण हो चुका है। यही 'सपाद सप्ताध्यायी यहा पूव शास्त्र है। इस ग्रथ मे अभी तीन पाद (अष्टमाध्याय म द्वितीय, तृतीय और चतुथ) बचे हैं। यह 'त्रिपादी परशास्त्र है। सपाद सप्ताध्यायी के किसी शास्त्र (सत्र) से यण, दीर्घ, गुण आदि कोई व्याकरणिक काय करना है तो त्रिपादी के शास्त्र असिद्ध माने जाएँगे। उनको या तो प्रवत्ति नही होगी या पहले प्रवृत्त हुए है तो उनके द्वारा निष्पन्न काय का अनिष्प न माना जायगा। त्रिपादी म भी पूवशास्त्र के विषय मे पर-शास्त्र असिद्ध है। सिद्धातकौमुदी मे भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र की व्याख्या मे लिखा —"अधिकारोऽयम। तेन सपाद-सप्ताध्यायी प्रति त्रिपादी असिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूव प्रति पर शास्त्रमसिद्धम्।' (सूत्र १२, प० ५)।

१० ३ १६ "लोप शाकल्यस्य"। (८ ३-१६) यह सूत्र त्रिपादी मे है। "पूवत्रासिद्धम' का अधिकार इस लोप विधायक सूत्र म भी उपस्थित होता है। यह शास्त्र पूवशास्त्र के विषय मे असिद्ध है। यहा, ८ ३ १६ की दृष्टि से 'पूव' का अथ क्या है ? "वृद्धिरादैच' (१ १-१) म लेकर 'ओत्लघुप्रयत्नतर शाकटाय-नस्य' (८-३ १८) तक म सब सूत्र 'लोप शाकल्यस्य' (८ ३ १६) की दृष्टि स पूव शास्त्र है। अत, १ १-१ से लेकर ८ ३-१८ तक के किसी सूत्र से कोइ काय (वद्धि, लोप आदि को ही यहा काय कहत है) करना चाहते है, तो लोपविधायक शास्त्र ही असिद्ध बन जाता है। इसका परिणाम क्य हुआ ? देवाय् + इति। इस अवस्था मे गुण की प्राप्ति नही है क्योकि दवा के आकार तथा 'इति' के इकार के बीच म यकार व्यवधान कर रहा है। 'लोप शाकल्यस्य" से यकार का लोप किया— दवा इति'। अब आकार और इकार के बीच म व्यवधान न होन के कारण गुण प्राप्त है। गुण का विधायक सूत्र ह— 'आद गुण "। यह षष्ठाध्याय के प्रथम पाद म ८७वा सूत्र है (६-१ ८७)। इस सूत्र के विषय मे लोप शास्त्र असिद्ध है। अर्थात् यकार का लोप होने के बाद भी गुणविधायक सूत्र की दृष्टि स 'आ' और 'इ के बीच 'य' का व्यवधान है। अत गुण नहीं होना। 'वृद्धिरचि' (६-१ ८८), 'इको यणचि" (६ १ ७७) "अक सवर्णे दीघ '(६-१ १०१) आदि सूत्र भी षष्ठाध्याय के प्रथम पाद म ही है। उनकी दृष्टि से लोप शास्त्र असिद्ध है। अत "लोप शाकल्यस्य" स विहित लोप के बाद गुण, दीघ आदि स्वरसधि की प्रवत्ति नही हो सकती।

१० ३ २० 'गौरी शब्द म 'सु' प्रत्यय का लोप हुआ है। इस लोप का विधायक सूत्र है—"हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात सुतिस्य पक्त हल् (६-१ ६८)। यह

सूत्र षष्ठाध्याय के प्रथम पाद में है। त्रिपादी का नहीं है। अतः स्वर-संधि के सदृश म यह सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं है। तो गुलाप के बाद भी यण् आदि संधि कार्य होते हैं। गौरी + एषा = गौर्येषा। यहाँ यणादेश हुआ। गौरी + इयम् = गौरीयम्। यहाँ सवर्ण दीर्घ हुआ। इसी प्रकार 'राजा' में भी हलङ्यादि सूत्र से गुलोप होने के कारण उसके बाद संधि करने में कोई बाधा नहीं होती। राजा + अयम = राजा-यम। सवर्णदीर्घ। राजा + इति = राजेति। गुण। राजा + एव = राजैव। इस प्रकार के विभिन्न लक्ष्यों की सिद्धि के लिए पाणिनि ने कुछ नियमों को त्रिपादी से पूर्व रखा था और कुछ अन्य नियमों को त्रिपादी में स्थान दिया। लाघव के लिए ही उनको इतना विभाजन करना पड़ा। इस लाघव को प्राप्त करने के लिए वर्ण समाम्नाय का आधार ग्रहण करना अनिवार्य था।

१०४ पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना में यथाप्य जागरूकता से काम लिया है। हम अनुमान नहीं कर सकते कि ऐसे एक शास्त्र ग्रंथ के निर्माण के लिए ग्रंथकार को कितनी विभिन्न प्रकार की बातों पर ध्यान—अवधान—रखना पड़ता है। अवधान की कमी हुई तो ग्रंथ रचना में व्यवधान जरूर पड़ेगा। एक उदाहरण में हम इसे समझ सकते हैं। 'अनडुह्' एक प्रातिपदिक है। यह हकारांत है। प्रथमा एक वचन में इसका रूप होता है—'अनड्वान्।' इसके अन्य रूप नीचे दिये जा रहे हैं—

प्रातिपदिक अनडुह्'

विभक्ति	ए० व०	द्वि० व०	बहु० व०
प्रथमा	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
संबोधन	हे अनड्वन्	,,	,,
द्वितीया	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः
तृतीया	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
चतुर्थी	अनडुहे		अनडुद्भ्यः
पंचमी	अनडुहः		,,
षष्ठी	,,	अनडुहोः	अनडुहाम्
सप्तमी	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु

पाणिनि ने देखा कि प्रथमा विभक्ति के तीनों तथा द्वितीया के दो वचनों में इस प्रातिपदिक के अंतिम हकार से पूर्व आकार का श्रवण हो रहा है। संबोधनार्थक प्रथमा के एकवचन में हकार से पूर्व दीर्घ का नहीं किंतु ह्रस्व अकार ही पाया जाता है। द्वितीया बहुवचन से लेकर सप्तमी बहुवचन तक ऐसा कोई आगम (addition) नहीं होता। 'अनडुद्भ्याम्' आदि में प्रत्ययों के योग के

कारण प्रातिपदिक का हकार दकार के रूप म परिवर्तित [illegible] है। [illegible]
वातें लक्ष्य व (data) परीक्षण से मालूम होनी है। अब इन [illegible]
नियमा की रचना करनी है।

१०४१ पहले देखें कि हकार का दकार [illegible] है।
विभक्तिया सात हैं। प्रत्येक विभक्ति म तीन वचन हैं। [illegible]
की सख्या इक्कीस है। इनम प्रथमा का द्विवचन और [illegible]) से
आरभ हात ह अजादि हैं। द्वितीया क तीना [illegible]
और पचमी के एकवचन अजादि हैं। षष्ठी क दोनों [illegible] हैं। [illegible]
के एकवचन और द्विवचन दोनो अजादि हैं। [illegible] हैं।
बाकी आठ प्रत्यय—(१) प्रथमा का एकवचन (२) [illegible] पचमी
के द्विवचन और बहुवचन और (३) सप्तमी का [illegible] हैं। [illegible]
देखा कि हलादि प्रत्यया के योग म ही [illegible] है,
अन्यत्र हकार ही रहता है। ता उन्होंने [illegible]—[illegible]-
डुहा द। (८ २ ७२)

'सु' का लोप करने के बाद यही लुप्तप्रत्ययान्त पद होता है—'सुप्तिङन्तं पदम्।" प्रत्यय का लोप होने पर भी प्रत्ययान्त मानने में बाधा नहीं है—"प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्।" अतः 'अनड्वान्' नकारान्त पद है। पदान्त नकार का लोप विहित है—"न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य।" जहाँ प्रातिपदिक ही लुप्तप्रत्ययान्त होने से 'पद' बन जाता है वहाँ नकार का लोप प्राप्त है। 'अनड्वान्' में लोप इष्ट नहीं है। इसके लिए क्या उपाय किया जाय? पाणिनि ने क्या कि हम हकार के स्थान में नकार का आदेश नहीं करते। हकार से पूर्व नकार का आगम करते हैं। इससे क्या होगा? देखिए। अनडुह्+स=(आम् आगम) अनड्वाह्+स= (नुमागम) अनड्वान्ह्+स। नुमागम का विधायक सूत्र है—"सावनडुहः" (७ १ ८२)। इस नुमागम के कारण 'दत्व' नहीं होता। हल्ङ्यादि सूत्र से 'स' (प्रत्यय) का लोप हो जाता है। अब यह रूप बनता है—'अनड्वान्ह्'। यही पद है। पद के अन्त में नकार और हकार का संयोग है। संयोगान्त पद के अंतिम वर्ण का लोप होता है—'संयोगान्तस्य लोपः" (८-२ २३)। इससे हकार का लोप करते हैं। अनड्वान्। इस स्थिति में 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८-२ ७) इस सूत्र से नकार का लोप प्राप्त है। किंतु न लोप का शास्त्र ८-२-७ पूर्वशास्त्र है। संयोगान्तलोप का शास्त्र ८ २-२३ परशास्त्र है। पूर्वत्रासिद्धम्। त्रिपादामपि पूर्व प्रति पर शास्त्रमसिद्धं स्यात्। नलोप शास्त्र की दृष्टि से संयोगान्तलोप शास्त्र असिद्ध है। अतः न लोप शास्त्र की दृष्टि में यह पद हकारान्त है नकारान्त नहीं है। तो न लोप नहीं होता। इस प्रकार नकारान्त रूप की सिद्धि हो सकती है। इतना ध्यान रखकर पाणिनि ने 'सावनडुहः' के द्वारा नुमागम का विधान किया। भट्टोजिदीक्षित ने संक्षेप में इस बात पर प्रकाश डाला है—'संयोगान्तलोपस्य असिद्धत्वात् नलोपो न।" (सिद्धान्तकौमुदी सूत्र ३३२, पृष्ठ ८०)।

१०४४ किंतु कोई भी मानव परिपूर्ण नहीं हो सकता। पाणिनि भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। उनसे भी असावधानी के कारण कुछ गलतियाँ हो गयी। कुछ बातें उनके ध्यान में नहीं रहीं। कहीं कहीं तो कुछ आवश्यक सूचना देना भी वे भूल गये। ऐसी कमियों को दूर करना आवश्यक था। साथ ही, पाणिनि ने जो कुछ कहा था उसकी व्याख्या करने की भी आवश्यकता थी। पाणिनि के गूढ आशय को साधारण पाठक समझ नहीं पाता, उसकी मदद के लिए स्पष्टीकरण देना भी अपेक्षित था। संक्षेप में अष्टाध्यायी का एक समीक्षात्मक अध्ययन करना आवश्यक था। कई आचार्यों ने पाणिनीय सूत्रों की समीक्षा प्रस्तुत की है। ऐसी समीक्षा को भी वे सूत्रों के समान ही सारगर्भित किंतु संक्षिप्त वाक्यों में व्यक्त करते थे। इन्हें 'वार्तिक' कहते हैं वृत्तौ भवं वार्तिकम्। मूलतः ये वार्तिक व्याख्या करने की दृष्टि से ही लिखे गए हैं। मूल ग्रंथ की बातों का विशद विवेचन करना उसके प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करके संभावित शंकाओं

का युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत करना और मूल ग्रंथकार के तात्पर्य पर प्रकाश डालना वार्तिक का पहला काम है। इसे 'उक्त का चिंतन' कहते हैं। अष्टाध्यायी पर लिखे गये अधिकांश वार्तिक इसी कोटि के हैं। ग्रंथकार ने यदि कोई बात छोड दी है और उसको जोडना आवश्यक है तो वार्तिककार उस नयी बात को स्वयं जोडकर ग्रंथ को अपूर्णता के दोष से बचाता है। यह 'अनुक्त का चिंतन' है—सूत्रकारेण यदनुक्तं किंतु लक्ष्यसिद्धार्थमवश्यं वक्तव्यं तस्यापि चिन्तनं वार्त्तिककारेण क्रियते। एक तीसरी स्थिति भी होती है। मूलकार ने कुछ 'गलत' कहा है उसका निराकरण करना अपेक्षित है। उसके स्थान पर सही बात का प्रतिपादन करना चाहिए। यह 'दुरुक्त का चिंतन' है। उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तनं वार्त्तिकम्।" ऐसे वार्तिकों के द्वारा पाणिनि की आलोचना करने वाले आचार्यों में कात्यायन सर्वप्रमुख हैं। आपको 'वररुचि' के नाम से भी जानते हैं। एक प्राचीन श्लोक में इसी नाम से आपका उल्लेख हुआ है—

वाक्यकारं वररुचिं
भाष्यकारं पतञ्जलिम्।
पाणिनिं सूत्रकारं च
प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम्॥

१०४५ पाणिनि की असावधानी या प्रमाद का एक उदाहरण अब प्रस्तुत किया जाता है। संयोगान्तस्य लोपः। इस सूत्र की चर्चा पहले हो चुकी है। यहां पाणिनि ने एक छोटी-सी बात पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने षष्ठाध्याय में एक सूत्र लिखकर यणादेश का विधान किया—'इको यणचि।' 'पत्यु', मत्य, वध्व, कर्त्रा आदि पदों में प्रातिपदिक और प्रत्यय के योग में यणादेश हुआ है। पति+उस=पत्यु। मति+ए=मत्य। वधू+अम्=वध्व। कर्तृ+आ=कर्त्रा। यहां यणादेश करने के बाद कोई प्रश्न नहीं उठता। किंतु जहां इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) पदांत हैं और पदांतरस्थ अच के कारण उनके स्थान में यण् (य, व, र, ल) का आदेश होता है, वहां एक प्रश्न उपस्थित होता है। कुछ उदाहरण लीजिए। सुधी+उपास्य=सुध्युपास्य। मधु+अरि=मध्वरि। धातृ+अंश=धात्रंश। ये सब समास हैं। समास का पहला पद 'पूर्व पद' कहलाता है और अंतिम पद को 'उत्तरपद' कहते हैं। अर्थात् समास के सभी घटक 'पद' ही होते हैं। समासांतर्गत पदों में 'सुप्' प्रत्यय का लोप विहित है—"सुपोधातुप्रातिपदिकयोः।' किंतु सुप् का लोप होने पर भी सुप् तत्व की क्षति नहीं होती— प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्।" अतः समास के घटक शब्द 'लुप्तविभक्तिक पद' ही माने जाते हैं। यणादेश के बाद इन समासों के पूर्वपद संयोगान्त बन जाते हैं। सुध्य, मध्व और धात्र—ये संयोगान्त पद हैं। इनके अंतिम व्यंजन का लोप प्राप्त है—

'सयोगान्तस्य लोप ।" 'मत्वा, बध्वा, धात्रा' आदि म य व-र पदान्त नहीं हैं। अत यहाँ लोप की प्राप्ति नही है। किंतु 'सुध्युपास्य' आदि म पदान्त सयोग की स्थिति म लोप दुर्वार है। यह लोप समास के अभाव म भी प्राप्त है। इति+ आह=इत्याह। गौरी+उवाच=गौर्युवाच। मधु+अस्ति=मध्वस्ति। कर्त+ इदम=कर्त्रिदम। य व्यस्त प्रयोग हैं। यणादेश स पूर्व की स्थिति म 'इति, गौरी, मधु और 'कर्त' अजन्त पद हैं। यणादेश के बाद य सयोगान्त बन जाते ह। अत यहाँ भी लोप प्राप्त है।

१०४६ पाणिनि ने स्वय अपन सूत्रो म यणादेश से सहित शब्दो का प्रयोग किया ह—(१) व्याहरति मृग । (२) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्। (३) इन्मा-ऽन्वादश अनुदात्तस्ततीयादौ। (४) आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (५) ओ पुयण्ज्य-पर। यहाँ सयोगान्तलोप नही किया गया। इससे प्रमाणित होता है कि पाणिनि यह जानत थ कि यणादेश के बाद सयोगान्तलोप नही होता। किंतु नियम बनाते समय यह बात उनक ध्यान म नही थी। यही प्रमाद है। कात्यायन न इस कमी को दूर करना चाहा, अत उ होन वार्तिक लिखा—"यण प्रतिषेधो वाच्य ।" इसका अथ है—सयोगान्तलोप यण् का नहीं होता, इस आशय का एक निषेध-नियम बनाना है। स्पष्ट है कि कात्यायन न यहाँ रचनात्मक ढग स—शास्त्र की गरिमा की रक्षा के लिए—एक सशोधन का सुझाव दिया है। यह अनुवर्तचितन का एक उदाहरण है।

१०४७ पाणिनि का एक सूत्र है—इन्द्रवरणभवशर्वरुद्रमडहिमारण्य-यवयवनमातुलाचार्याणामानुक (४-१ ४९)। यहसूत्र स्त्री प्रत्यय प्रकरण म पठित है। इसस पूव का सूत्र है—पुयोगादाख्यायाम' (४ १ ४८)। पुयोग का अथ है पति का सबध। अर्थात यह स्त्रीप्रत्यय पत्नी के अथ म विहित है। पत्नी के अथ म पति (पुरुष) वाचक शब्द म ङीप' प्रत्यय जुडता है। 'ङीप म ङकार और पकार इत हैं। कवल ई बचता है गोपस्य स्त्री गोपी। गोप+ई=गोपी। गोपालक (अहीर) की पत्नी को 'गोपी' कहत हैं। 'इन्द्र' आदि शब्दो म ङीप' प्रत्यय के साथ 'आनुक्' आगम भी लगता है। आनुक म ककार इत है। उकार अनुनासिक है अत वह भी इत है। कित्त्व स यह सूचना मिलती है कि यह आगम इद्र आदि शब्दो क अत म जुडता है— आद्यन्तौ टकितौ। इद्रस्य स्त्री=इद्र +ङ=इद्र+आन+ई=इद्रानी=इद्राणी। इद्र की पत्नी शची को इद्राणी कहते ह।

१०४७१ इस सूत्र म कुल बारह शब्द पठित है। इद्र और वरुण दो वदिक देवता हैं। भव शव, रुद्र और मड—य चारो शिव के पर्याय है। मातुल माता क भाई—मामा—का कहत है। आचाय ता गुरु का पयाय है। य सभी शब्द पुरुषवाचक है। इद्राणी=शची। वरुणानी=वरुण की पत्नी। शिव की पत्नी

पार्वती को 'भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी' या 'मृडानी' कह सकते हैं। मामा की पत्नी को 'मातुलानी' कहते हैं। इन आठ शब्दों में पुंयोग-लक्षण ङीष् का प्रयोग उपपन्न है। बाकी चार शब्द हैं—हिम, अरण्य, यव, यवन। इनमें हिम और अरण्य शब्द नपुंसकलिंग हैं तथा अचेतन अर्थ के वाचक हैं। यहाँ पुंयोग की उपपत्ति नहीं है। 'यव' शब्द पुंलिंग है, यह धान्य विशेष का वाचक है। अतः यहाँ भी पुंयोग की उपपत्ति नहीं है। 'यवन' एक वर्ग के मनुष्य का वाचक है। किंतु इस शब्द में पुंयोग के अर्थ में 'आनुक्' आगम नहीं होता। यवन की स्त्री तो यवनी होती है। पुंयोग-लक्षण ङीष् तो प्रवृत्त है, आनुक् नहीं।

१० ४७ २ 'आचार्य' शब्द में 'आनुक्' आगम करने के बाद नकार का णत्व प्राप्त होता है— 'रषाभ्यां नो णः समानपदे। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि।' किंतु 'आचार्यानी'—ऐसा णत्व रहित रूप ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'उपाध्यायानी' शब्द भी प्रयुक्त है। सूत्र में 'उपाध्याय' शब्द पठित नहीं है। इस शब्द में आनुक् आगम वैकल्पिक है। 'उपाध्यायानी' की तरह 'उपाध्यायी' शब्द भी मिलता है। ये शब्द उपाध्याय (अध्यापक) की पत्नी के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जो स्त्री अध्यापक की पत्नी नहीं है किंतु स्वयं अध्यापन का कार्य करती है उसे भी 'उपाध्यायी' कहते हैं। इस अर्थ में 'उपाध्याया' (टाप् प्रत्ययान्त रूप) शब्द भी प्रचलित है। 'उपाध्यायानी' में आनुक् के कारण हम जानते हैं कि यह 'उपाध्याय की पत्नी' का वाचक है। जो अध्यापन करती है वह 'उपाध्यायानी' तभी हो सकती है जब उसका पति भी अध्यापक हो और हम केवल पुंयोग की विवक्षा करें। यदि अध्यापन करने वाली स्त्री अविवाहित है या उसका पति अध्यापक नहीं है तो केवल अध्यापन-क्रिया के कारण उस स्त्री को 'उपाध्यायानी' नहीं कह सकते। इसी प्रकार 'उपाध्याया' शब्द से उस स्त्री का बोध होता है जो अध्यापन कार्य करती है। क्रियायोग से स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय से यह रूप बना है। जो अध्यापन नहीं करती, वह स्त्री अध्यापक की पत्नी होने पर भी 'उपाध्याया' नहीं है। 'उपाध्यायी' शब्द के तो दोनों अर्थ होते हैं—(१) अध्यापिका, (२) अध्यापक की पत्नी।

१० ४७ ३ सूत्र में 'मातुल' शब्द पठित है। मातुल की स्त्री 'मातुलानी' तो होती है किंतु इसी अर्थ में 'मातुली' शब्द भी प्रयुक्त है। अर्थात्, यहाँ 'आनुक्' वैकल्पिक है। मातुल और उपाध्याय—इन दोनों में 'आनुक्' वैकल्पिक है, यह रूप समानता है।

१० ४७ ४ 'हिम' और 'अरण्य' शब्द का स्त्रीलिंग रूप भाषा में मिलता है। हिमपात अधिक हो तो उसे 'हिमानी' कहते हैं। अरण्य बड़ा हो तो वही 'अरण्यानी' है। इन शब्दों में पुंयोग के अभाव में भी ङीष् और आनुक् महत्ता के अर्थ में उपलब्ध हैं। यह शंका व्यर्थ है कि अचेतन अर्थ के वाचक शब्द स्त्रीलिंग

कैसे हो सकते है ? संस्कृत म लिंगव्यवस्था प्रयोग पर ही आधारित है। जीवविज्ञान क लिंग (biological sex) स इसका कोई संबंध नहीं है। यह लिंग अर्थाश्रित न होकर शब्दाश्रित (grammatical gender) है। स्त्रीत्व लोकात। अन स्त्रीलिंग मे ङीष प्रत्यय का प्रयोग उपपन्न है।

१०७५ 'यव' शब्द म ङीष तथा आनुक स दोष विशेष का बोध होता है। जा वास्तव म यव नही है किंतु आकृति म यव मे समान है, उसे 'यवानी' कहते है। स्त्रीत्व लोकात। 'तत्त्वबोधिनी' टीका मे लेखक इस बात को स्पष्ट करते हैं—

'जात्यन्तरमेव अनेन अभिधीयते। अयमेव चास्य दोषो यस्मात् स्त्रीययव स्वजातेरभावेपि तदाकारानुकृति।" (तत्त्वबोधिनी, सू० ५०५, पृ० १२५)

१०७६ यवन की स्त्री को तो यवनी' कहते हैं। तो फिर 'यवनानी' का क्या अर्थ है ? यहा आनुक के कारण यवना की लिपि का बोध होता है। यवना की लिपि को 'यवनानी' कहते हैं।

१०७७ अर्य और 'क्षत्रिय' ये दो शब्द भी इसी प्रसग म विचारणीय हैं। अर्य' शब्द के दो अर्थ पाणिनि न स्वय बताये हैं—"अर्य स्वामिवैश्ययो" (३ १-१०३)। मालिक एव व्यापारी को 'अर्य' कहते हैं। क्षत्रिय तो जातिवाचक शब्द है। पुयोग मे अर्थ म 'ङीष प्रत्यय होने से इन शब्दो के रूप बनते हैं—अर्यी, क्षत्रियी। मालिक या वैश्य की स्त्री को 'अर्यी कहते है। क्षत्रीय की स्त्री क्षत्रियी है। इन शब्दो स यह मालूम नही होता कि यह स्त्री स्वय किस जाति की है। यदि पुयोग की विवक्षा न करें और केवल स्त्रीत्व की विवक्षा करें तो इन शब्दो के दो दो रूप उपलब्ध है—(१) अर्याणी, अर्या। (२) क्षत्रियाणी क्षत्रिया। जो स्वय सपत्ति की स्वामिनी है या स्वय वैश्य जाति की है उसे 'अर्याणी' या 'अर्या कहते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय जाति की स्त्री को क्षत्रियाणी' या 'क्षत्रिया कहते हैं। पाणिनि के सूत्र म इन बातो का उल्लेख नही हुआ। वार्तिककार ने देखा कि यह अनुक्ति (omission) एक दोष है। इस दोष का निराकरण करना चाहिए। अत य वार्तिक लिखे गये— हिमारण्ययोर्महत्त्वे। यवाद् दोषे। यवनात् लिप्याम्। मातुलोपाध्याययोरानुग् वा। या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष वाच्य। आचार्यादणत्व च। अर्यक्षत्रियाभ्या वा स्वार्थे" (सिद्धान्तकौमुदी सूत्र ५०५, पृष्ठ १२५)। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि यहा वार्तिककार दोषदर्शन के लिए प्रयास नहीं कर रहे हैं, किंतु भाषा मे उपलब्ध तथ्यो के आधार पर, अनुक्त' का चिंतन करके, पाणिनि की कमी को दूर करने का ही प्रयास कर रहे है। वे 'पूरक' का काम कर रहे हैं, दूषक का नहीं। अनुक्त चिंतन के ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

१०७८ दुरुक्त का अर्थ है दोषपूर्ण कथन। दोष कई प्रकार के हो सकते

हैं। किसी नियम का निर्माण करते समय सब आवश्यक बातों पर ध्यान देना चाहिए और ऐसा नियम बनाना चाहिए जिसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का दोष प्रसक्त न हो। लक्ष्य को देखकर उसके अनुसार सामान्य(उत्सर्ग) और विशेष (अपवाद) नियम की रचना करनी चाहिए। अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती—'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते।' इसका एक उदाहरण देना उचित होगा। पाणिनि का सूत्र है—"वृद्धिरचि"। इसका अर्थ है कि अकार के बाद 'एच' (ए ओ, ऐ औ) आए तो दोनों वर्णों के स्थान पर वृद्धि होगी। 'वृद्धिरादच्' आ ए और ओ—इन तीन वर्णों को 'वृद्धि' कहते हैं। तस्य+एव=तस्यैव। गंगा+ओघ=गंगौघ। लेकिन यहाँ विचार णीय है कि अकार के बाद अच हो तो गुण का विधान किया गया है—'आद गुणः।" एच तो अच् का ही एक अंश है। अतः वृद्धि के सभी उदाहरणों में गुण भी प्राप्त है। तो यही मानना पड़ता है कि वृद्धि गुण का अपवाद है—"यन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य अपवादो भवति। अपवाद बाधक होते हैं और उत्सर्ग बाध्य होते हैं। इस बाध्य बाधकभाव के कारण गुण को दबाकर यहाँ वृद्धि प्रवृत्त होती है। विद्या+अभ्यास' इत्यादि में सवर्ण दीर्घ ("अकः सवर्णे दीर्घः") गुण का बाधक है। किंतु जब अकारांत उपसर्ग के बाद एङादि धातु आता है तब पररूप होता है। 'एङि पररूपम्'। प्र+एजते=प्रेजते। उप+आपति=उपोपति। यह पररूप गुण का अपवाद है। इस पररूप का भी अपवाद मिलता है। प्र+एति=प्रैति। उप+एति=उपैति। उप+एधते=उपैधते। यहाँ पररूप नहीं, वृद्धि ही होती है। इसका सूत्र है—'एत्येधत्यूठ्सु'। किंतु 'उप+इतः=उपेतः' होता है। प्र+इदिधत=प्रेदिधत। इन उदाहरणों में गुण हुआ है। 'इत' 'इण्' धातु का ही रूप है। यह लट् लकार में प्रथम पुरुष में द्विवचन का रूप है अथवा भूतकालिक क्तप्रत्यय से विशेषण का पुंलिंग में प्रथमा एकवचन का रूप है। 'इदिधत्' 'एध' धातु का रूप है। 'एध' धातु का णिजंत (प्रेरणार्थक, causative)रूप 'एधय' है। लुङ् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन में 'इदिधत' रूप बनता है। पूरा वाक्य है—'मा भवान प्रेदिधत।"—आप मत बढ़ाइए। 'माङ' निषेधात्मक अव्यय है। उसी के कारण विध्यर्थ में लुङ का प्रयोग किया जाता है—'माङि लुङ"। वैसे 'एध' धातु के पूर्व लुङ लकार में 'आट' आगम प्राप्त है—'लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्त। आडजादीनाम्।" माङ के कारण आडागम नहीं होता—'न माङ्योगे"। इस प्रकार 'एध' धातु का यह रूप इकारादि बन गया। उपेत, प्रेदिधत आदि में प्राप्त वृद्धि के निवारण के लिए सूत्र की व्याख्या में यह जोड़ना पड़ा कि जब 'एति' (इण धातु) और 'एधति' (एध धातु) एजादि हों तभी वृद्धि होती है अन्यत्र नहीं। 'इत' इण् धातु का रूप तो है, एजादि नहीं है। 'इदिधत्' एध धातु का ही रूप है, यह भी इकारादि है, एजादि

नही है। वृद्धिरचि' सूत्र से 'एचि' की अनुवृत्ति करके, 'एत्येधत्यूठसु' का उस विशेषण बनाते हैं। "यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे।"—इस परिभाषा से 'एचि' का अर्थ एजादि' लेना चाहिए। यह विशेषण ऊठ'(यह सम्प्रसारण है। वाह् ऊठ। विश्व+वाह + अस=विश्व+ऊह +अस=वृद्धि के कारण, विश्वौह।) मे अन्वित नही होता, क्योंकि ऊठ का एजादित्व असभव है। अत यह विशेषण एति और एधति मे ही अन्वित होता है। इस व्याख्या का ही फल है कि 'उपेत' इत्यादि म गुण का समर्थन किया जा सकता है। यदि यहाँ 'एजादि' विशेषण नहा दते, तो यह दुरुक्त' का उदाहरण बन जाता। भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है—

"एत्येधत्यूठसु (६ १ ८९) अवर्णात एजाद्यो एत्येधत्यो ऊठि च परे वृद्धि-रेकादेश स्यात। पररूपगुणापवाद। उपैति। उपैधते। प्रष्ठौह। एजाद्योरिति किम ? उपेत। मा भवान प्रेदिधत।" (सिद्धान्तकौमुदी, सूत्र ७३, पृ० १६)।

१०४८१ किंतु कहीं कहीं पाणिनि ने जो नियम बनाया उसम अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का दोष आ गया है। इस दुरुक्त का सशोधन वार्तिककार ने किया। दुरुक्त का एक उदाहरण है— कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि'। इस सूत्र का अर्थ है कि कास तथा प्रत्ययान्त धातुओ के लिट लकार म आम' प्रत्यय जुडता है किंतु यह विधि मन्त्र म लागू नहीं होती। 'प्रत्ययान्त धातु' का अर्थ क्या है ? कुछ धातु तो पाणिनीय धातुपाठ म पठित हैं। वे प्रत्ययान्त नहीं हैं। किंतु इनम प्रेरणार्थक णिच इच्छार्थक सन, क्रियासमभिहारार्थक यङ आदि प्रत्ययो को जोड दें तो ये ही प्रत्ययान्त धातु बन जाते हैं—सनाद्यन्ता धातव। 'भू' धातु सत्तार्थक है। इसका रूप बनता है— भवति'। सन्नन्त रूप है— बुभूषति' यङन्त रूप है— बोभूयते'। यङ्लुगन्त रूप है— बोभवीति। णिजन्त रूप है— भावयति।' भू धातु का लिट लकार का रूप है— बभूव।' यहाँ 'आम्' प्रत्यय नही हुआ। बुभूषति' आदि प्रत्ययान्त रूपो के लिट लकार म आम प्रवृत्त होता है—बुभूषामास बुभूषाबभूव, बुभूषाचकार। इसी प्रकार बोभूयामास, बोभवामास, भावयामास आदि रूप बनते हैं। अत प्रत्ययान्त धातुओ के लिए 'आम का विधान उचित ही है।

१०४८२ किंतु इस विधि म अव्याप्ति दोष है। चकास—दीप्तौ (१०७४) दरिद्रा—दुर्गतौ (१०७३)। ये धातु प्रत्ययान्त नहीं है। किंतु इनके साथ लिट म 'आम' प्रत्यय का प्रयोग होता है। चकासाञ्चकार। दरिद्रामास। अत वार्तिककार ने सशोधन प्रस्तावित किया है कि अनेकाच् धातु के लिए 'आम का विधान किया जाय— कास्यनेकाच आम वक्तव्य। प्रत्ययान्त के स्थान पर 'अनेकाच' कहना उचित है। सिद्धान्तकौमुदी म लिखा है—

'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (३ १ ३५)। कासधातोः प्रत्ययान्तेभ्यश्च आम् स्यात् लिटि न तु मन्त्रे। "कास्यनेकाजग्रहणं कर्तव्यम्।" सूत्रे प्रत्ययग्रहणमपनीय तत्स्थानेऽनेकाच इति वाच्यमित्यर्थः (सूत्र २३०६ पृ०२६३)। प्रत्ययान्त धातु—गोपाय, जिनाम, बोभूय आदि—प्रायः अनेकाच ही होते हैं किंतु कई अनेकाच धातु प्रत्ययान्त नहीं होते। अतः अव्याप्ति के निवारण के लिए वार्तिककार का यह प्रस्तावित संशोधन मूल्यवान है। भाष्यकार ने भी इसका स्वीकार कर लिया है। दुरुक्त चिंतन का यह एक उदाहरण है।

१०४८३ दुरुक्त का एक और प्रकार है। कोई नियम व्यर्थ है—उसके बिना भी काम चल सकता है। ऐसी स्थिति में उस नियम का प्रत्याख्यान (निराकरण, रद्द करना) ही उचित है। पाणिनि का एक सूत्र है— दीधीवेवीटाम्। यह सूत्र गुण और वृद्धि के निषेध के लिए पाणिनि ने बनाया। 'दीधी' और 'वेवी' दो धातु हैं। 'इट्' एक आगम है जो 'वल्' से आरंभ होने वाले आर्धधातुक प्रत्यय के आदि में जुड़ता है—"आर्धधातुकस्येड्वलादेः"। किस धातु के साथ ईडागम होता है और किसके साथ नहीं होता? किस प्रत्यय के साथ यह आगम प्राप्त है और किसके साथ नहीं? संस्कृत भाषा में इस आगम की व्यवस्था अत्यंत जटिल है। सप्तमाध्याय के द्वितीय पाद में पाणिनि ने इस आगम के संबंध में विस्तार से चर्चा की है। 'इट्' में टकार इत् है, केवल इकार बचता है। इस इकार की वृद्धि तो कहीं प्रसक्त नहीं है किंतु 'भविता' आदि में गुण की प्राप्ति दिखाई देती है। सूत्रकार ने इट् के गुण का निषेध किया है।

१०४८४ आदीध्यनम्। आवेव्यनम्। इन शब्दों में गुण प्राप्त है, आ पड़ता है। 'दीधी' और 'वेवी' धातु के साथ 'ल्युट्' प्रत्यय जुड़ा है। ल्युट् में प्रथम लकार तथा अंतिम टकार इत् हैं—'लशक्वतद्धिते', "हलन्त्यम्"। यु बचता है। उसके स्थान पर 'अन' का आदेश विहित है—'युवोरनाकौ'। यह अन प्रत्यय आर्धधातुक है अतः धातु के इकार का गुण प्राप्त होता है— सार्वधातुकार्धधातुकयोः। इसी प्रकार आदीध्यक, आवेव्यक में वृद्धि प्राप्त है। ये शब्द कर्तृवाचक 'ण्वुल्' प्रत्यय से निष्पन्न हैं। 'ण्वुल्' में णकार और लकार इत् हैं। 'वु' बचता है और उसके स्थान पर 'अक' आदेश होता है। 'युवोरनाकौ'। यह प्रत्यय णित् है। अतः धातु के अंतिम अच् की वृद्धि प्राप्त है—अचो ञ्णिति। अन्य धातुओं में 'ल्युट्' के योग में 'गुण' तथा 'ण्वुल्' के योग में 'वृद्धि' के दर्शन होते हैं। दर्शन स्वयं गुण का उदाहरण है। दृश+अन=दर्शन। 'पुगन्तलघूपधस्य च"। इस सूत्र से गुण हुआ। चयनम्। चि+अन=चे+अन=चयन। स्मरणम्। स्मृ+अन=स्मर्+अन=स्मरण। यहां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण हुआ। नायक। नी—ण्वुल्=नी+वु=नी+अक=नै+अक=नायक। पावक। पू+ण्वुल=पू+वु=पौ+अक=पावक। कारकम्। कृ+अक=कारक। यहां 'अचो-

क्ङिति' सूत्र से वृद्धि हुई। इसी प्रकार दीधी वेवी में भी गुण और वृद्धि प्राप्त है। अतः पाणिनि ने उनका निषेध किया।

१०४८५ 'लुट्' का गुण कैसे प्राप्त होता है? एक उदाहरण लेकर विचार करना लाभकारी होगा। भू धातु का लुट लकार में प्रथम पुरुष एकवचन है—'भविता'। इस रूप की निष्पत्ति पर ध्यान देना है। 'लुट्' लकार में विकरण-प्रत्यय तासि लगता है— स्यतासी लृलुटोः।" इस प्रत्यय का अंतिम इकार इत् है प्रत्यय का रूप सकारांत है— तास्। यह आर्धधातुक प्रत्यय है। तकार 'वल्' प्रत्याहार में आता है, अतः इडागम होता है— आर्धधातुकस्येड् वलादेः"। भू+इतास+लुट्। तास प्रत्यय के कारण 'भू' में उकार का गुण होता है—"सार्व-धातुकार्धधातुकयोः"। भू+इतास+लुट्=भो+इतास=भवितास्+लुट्। लुट् के स्थान पर तिप आदि तिङ् प्रत्यय विहित है। किंतु लुट् लकार में प्रथम पुरुष के तीनों वचनों (तिप तस्, झि) के स्थान पर क्रम से 'डा', 'रौ' और 'रस'—ये तीन आदेश होते हैं। प्रथम पुरुष के एकवचन में 'डा' प्रत्यय आता है। भवितास+डा। इस प्रत्यय का प्रथम वर्ण डकार इत् है—"चुटू"। डित् प्रत्यय के योग में 'भ' संज्ञक शब्दों के 'टि' का लोप विहित है। 'डा' प्रत्यय 'स्वादि' सूची में नहीं है। अतः 'भवितास' की भ संज्ञा तो प्राप्त नहीं होती। किंतु 'डा' प्रत्यय में डकार की इत् करने से क्या लाभ है? डित्व तो टिलोप के लिए ही है। 'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः'। 'भवितास' में 'आस' को 'टि' मानते हैं—'अचोऽन्त्यादि टि।" उसका लोप करने पर रूप बनता है—'भविता'।

१०४८६ भू धातु इस शब्द का मूल रूप (Root) है उसके साथ 'लुट्' लकार का प्रत्यय 'आ' जुड़ता है। इस प्रत्यय की दृष्टि से 'भू' अंग (Stem) है। लेकिन विकरण प्रत्यय 'तास' को जोड़ने के बाद, 'भवितास' अंग बन जाता है। "यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्" —इस लक्षण के आधार पर तास्प्रत्यय या त रूप को अंग मानते हैं। इस अंग के 'टि' (आस) का लोप करने पर 'भवित्' बचता है। अब यही अंग है। इस अंग में इकार उपधा है। अतः 'डा' प्रत्यय के कारण यहां लघूपधगुण प्राप्त है—'पुगन्तलघूपधस्य च'। इस रूप को छोड़ दें तो अन्यत्र—प्रथम पुरुष के द्विवचन तथा बहुवचन में और मध्यम या उत्तम पुरुष के तीनों वचनों में—गुण की प्राप्ति नहीं है। 'लुट्' लकार में 'भू' (परस्मैपदी) धातु के रूप निम्न प्रकार हैं—

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम	भविता	भवितारौ	भवितारः
मध्यम	भवितासि	भवितास्थः	भवितास्थ
उत्तम	भवितास्मि	भवितास्वः	भवितास्मः

आत्मनेपदी धातु के रूप यों हैं—

"एध" वृद्धौ। लुट।

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम	एधिता	एधितारौ	एधितार
मध्यम	एधितासे	एधितासाथे	एधिताध्वे
उत्तम	एधिताहे	एधितास्वहे	एधितास्महे

उपर्युक्त रूपों को देखने से स्पष्ट होता है कि सिर्फ प्रथम पुरुष एकवचन में ही ऐसी स्थिति पैदा होती है कि अंग इगुपध बनजाता है। अन्यत्र 'तास' प्रत्यय का टिलोप नहीं होता। कहीं-कहीं तास के सकार का लोप होता है—भवितास +सि=भवितासि। भवितास्+रौ=भवितारौ। एधितास+ध्वे=एधिताध्वे। 'तासस्त्योर्लोप"। "रि च'। "धि च"। फिर भी अंग आकारान्त रहता है। अतः इट का इकार उपधा नहीं हो सकता। केवल प्रथम पुरुष के एकवचन में टिलोप के कारण अंग तकारान्त बनता है और वहां इट का इकार उपधा के रूप में विद्यमान है। उसी का गुण प्राप्त है।

१०४८७ इट के गुण की प्राप्ति केवल लुट लकार तक ही सीमित नहीं है। 'लुङ्' (भूतकाल) लकार में भी यही दोष प्रसक्त है। ऐधिष्ट। 'एध' धातु के लुङ लकार में प्रथम पुरुष का एकवचन है। यहां विकरण प्रत्यय है सिच्'। इसमें इकार और चकार इत हैं। केवल सकार बचता है। यह आर्धधातुक प्रत्यय है। अतः इडागम होता है। ऐध+इस+त। 'त' प्रत्यय की दृष्टि से 'ऐधिस' अंग है। किंतु यह कहा जा सकता है कि सभी आत्मनेपद प्रत्यय—त, आताम, थास्, आथाम्, ध्वम, इ, वहि, महि—ङित हैं। पाणिनि का कहना है कि जो सार्वधातुक प्रत्यय अपित् (जिनमें पकार इत नहीं है) हैं, उन्हें ङित मानना चाहिए— सार्वधातुकमपित्'। ङित प्रत्यय के योग में गुण का निषेध किया गया है—'क्ङिति च।" अतः आत्मनेपद में गुण की प्राप्ति का दोष नहीं है। किंतु परस्मैपद प्रत्ययों की सूची में—तिप तस, झि, सिप थस थ, मिप वस, मस—तीन प्रत्यय पित् हैं। ये हैं तिप सिप और मिप्। ये तीनों एकवचन हैं। तिप् प्रथम पुरुष का, सिप् मध्यम का और मिप् उत्तम का एकवचन है। लुङ्' लकार में प्रत्यय के इकार का लोप विहित है— 'इत च"। इकार का लोप करने पर, 'तिप्' का रूप 'त' और 'सिप्' का 'स्' बनता है। एक ही वर्ण का प्रत्यय 'अपृक्त' कहलाता है— अपृक्त एकाल प्रत्यय"। इस अपृक्त का 'ईट' आगम होता है—"अस्ति सिचोऽपृक्ते।' यदि सिच् का इडागम और अपृक्त का ईडागम होता है, तब सिच् का सकार दोनों आगमों के बीच में रहता है। इस स्थिति में सिच् का लोप हो

जाता है—"इट ईटि"। उदाहरण है—'आतीत'। 'अत=सातत्यगमने' इस धातु का लुङ प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है 'आतीत'। आत+इस+ईत= आतीत। मध्यम एकवचन का रूप है—'आती।' 'आत+इस+ईस= आतीस=आतीर=आती। उत्तम पुरुष एकवचन म 'मिप के स्थान पर अम' आदेश होता है—तसथसथमिपा तात ताम।" 'अम' तो दो वर्णों का प्रत्यय है, अत ईडागम नहीं होता। आत+इस+अम=(पत्व) आतिषम। आतीत्, आती, आतिषम'—इन तीनों रूपों म इट का गुण प्राप्त है। गुण शास्त्र सपाद सप्ताध्यायी म है। इट ईटि अष्टमाध्याय के द्वितीय पाद (८ २-२८) म है। पूर्व त्रासिद्धम्—अत सिज् लोप से पूर्व ही लघूपधगुण प्राप्त है।

१० ४ ८ ८ यहाँ एक प्रासगिक शका हो सकती है। इट ईटि' त्रिपादी म है। तो फिर सिज लोप के बाद 'आति+इत' और आति+ईस' म सवर्ण-दीर्घ कैसे होगा? "अक सवर्णे दीर्घ '—यह सूत्र तो षष्ठाध्याय के प्रथम पाद म है। इस कठिनाई का निवारण वार्त्तिककार न किया। उन्होंने कहा—'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्य।" एकादेश (सवर्णदीर्घ) के विषय म इस लोप को सिद्ध ही मानना चाहिए। पाणिनि ने इस कठिनाई पर ध्यान नहीं दिया था। इस प्रमाद' पर विचार करके वार्तिककार ने यह सशोधन प्रस्तुत किया है। 'आतीत, अला-वीत' जैसे कई क्रिया रूपों में 'इट' का गुण प्राप्त है। 'दीधी, वेवी इन धातुरूपा म कहीं गुण और कहीं वृद्धि प्राप्त है। इस सभावना पर विचार करके पाणिनि न गुण वृद्धि के निषेध के लिए सूत्र बनाया— 'दीधीवेवीटाम'।

१० ४ ८ ९ वार्त्तिककार ने इस सूत्र की आलोचना की। उन्होंने कहा कि दीधी और 'वेवी' ये दोनों धातु वैदिक सस्कृत म ही पाये जाते हैं। लोकभाषा मे इनका प्रयोग नहीं होता। 'दीधीङ =दीप्तिदेवनयो। वेवीङ वेतिना तुल्य।" अदादि गण म ये धातु पठित है। (१०७७ १०७८) दोनों आत्मनेपदी हैं—दीधीते, वेवीते। भट्टोजिदीक्षित न 'दीधीङ् धातु का प्रतीक लेकर लिखा है— एतदादय पञ्च धातव छान्दसा' (कौमुदी पृ० ३९६)। उनका मत है कि दीधीङ वेवीङ षस सस्ति, वश—ये पाच धातु छान्दस हैं। किंतु वश का प्रयोग लौकिक सस्कृत मे भी मिलता है—"वष्टिभागुरिरल्लोपम। वार्त्तिककार और भाष्यकार का वचन इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि दीधी' और 'वेवी छान्दस ही हैं।

१० ४ ८ १० लोक भाषा म यह सभावना रहती है कि कई शब्द किसी पूर्व वर्ती ग्रथ म प्रयुक्त नहीं भी हो, पर वे शास्त्रविहित होने के कारण प्रयोगार्ह हैं। प्रयोगार्ह शब्दों की सिद्धि के लिए शास्त्रकार को जागरूकतापूर्वक नियमों का निर्माण करना चाहिए। लोकभाषा के शब्द तो असख्यात हैं। अत उनका अन्वा-ख्यान करते समय समस्त प्रकार की सभावित स्थितियों पर ध्यान रखना अपेक्षित है। छद (वेद) म इसकी आवश्यकता नहीं है। वेदों म जो रूप प्रयुक्त हैं,

केवल उन्हीं का अन्वाख्यान करना पर्याप्त है। अप्रयुक्त किंतु प्रयोगार्ह शब्दों की स्थिति वद म ता नही है। आदीध्यनम, आदीध्यक आवव्याम आवव्यक' आदि रूप जिनम गुण और वृद्धि प्राप्त हैं और उनका निषेध करना पड रहा है—वद म कहीं प्रयुक्त नही हैं। अप्रयुक्त रूपो की चिंता करना व्यथ है। अत यह निषेध सूत्र अनावश्यक है।

१०४८११ वार्तिककार न बताया वद म 'दीधी' धातु का गुणसहित रूप मिलता है प्रजापतिर्वै यत्किंचन मनसादीधेत्।" 'होताय वृत कृपयन्न-दीधेत। अदीध्युदाशराने वतास।" शास्त्रकार को प्रयोग के आधार पर नियम बनाता है। इस दृष्टानुविधान कहत हैं। जब गुणसहित रूप उपलब्ध हैं, तब गुण का निषेध करना असगत और अप्रामाणिक है। वेवीङ् धातु का कोई उदाहरण नही दिया गया। अत इन दोनो धातुओ का गुण निषेध व्यथ है। वार्तिककार ने अपना मत युक्तिसगत रूप मे इन शब्दा म प्रकट किया—

"दीधीवेव्यो छन्दोविषयत्वात दृष्टानुविधित्वाच्च छदस छन्दसि अदीधे ददीध्यग्निरिति च गुणदर्शनादप्रतिषेध।" (महाभाष्य १ १ ६, पृ० २३२)

१०४८१२ भाष्यप्रदीप म कयट न इस वार्तिक की व्याख्या म स्पष्ट किया है— भाषायामतयो प्रयोगाभावात।" ये दोना धातु लौकिक संस्कृत मे उपलब्ध नहीं हैं। अप्रयुक्त भी हैं प्रयोगानह भी हैं "दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दस।' इसका अभिप्राय क्या है? क्या वार्तिककार कहत है कि छन्द मे ही दृष्ट प्रयोगों का अन्वाख्यान होना है? तो क्या लोक भाषा म अप्रयुक्त शब्दों का भी अन्वाख्यान हो सकता ह? यह शका उठाकर कयट न कहा कि लोक भाषा म भी दृष्ट प्रयोगो का अन्वाख्यान किया जाता है। प्रथम वार्तिक "सिद्धे शब्दार्थसबधे' मे इसी का प्रतिपादन किया गया है। यदि लोक और वद दोना म दृष्टानुविधि को स्वीकार करत हैं तो दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दस" के द्वारा किस विशेषता की ओर सकेत किया जा रहा है? कैयट का उत्तर है कि छन्द मे जो दृष्ट है उसीका अन्वाख्यान किया जाता है। परोक्ष रूप म उनका सकेत है कि लोक म दृष्ट के साथ अदृष्ट का भी अन्वाख्यान होता है। कयट के शब्द हैं—

'यद्यपि भाषायामपि दृष्टमेवानुविधीयते, 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति न्यायात, तथापि आदीध्यनमित्यादि प्रयोग छन्दसि नास्ति। दृष्टस्यैव छन्दस्यनु-विधानमित्यर्थ न तु छन्दस्येव दृष्टानुविधानमिति।'

(भाष्यप्रदीप १ १-६, पृ० २३२)

कैयट कहना चाहत हैं कि लोक और वेद दोना म दृष्ट का ही अनुविधान किया जा सकता है। किसी कल्पित शब्द का अन्वाख्यान शास्त्र का काम नही है। किंतु एक मौलिक अतर है। लोकभाषा असीमित है। करोडो व्यक्ति भाषा का

व्यवहार करते है। लाखो वर्षो से व्यवहार करते आ रहे है। अत किसी धातु या प्रातिपदिक का प्रयोग लोकभाषा म किसी रूपविशेष तक सीमित नही है। शब्दा के समस्त सभावित रूप—शिष्टपरिगहीत होने के कारण प्रयोगाह हैं। प्रयोगाह रूपो का अ वाख्यान करना ही चाहिए। किंतु वद म किसी धातु या प्रातिपदिक के समस्त रूपो का प्रयोग दष्ट नही है। आदीध्यनम्' आदि रूप वद मे प्रयुक्त नही है। अत जो दृष्ट नही है उसका अन्वाख्यान अनपेक्षित है। लोक म भू धातु को लें। दस लकारा म तीन पुरुषा म, तीन वचना म, कर्तरि और भाव प्रयाग म, णिज त, यङ त, यङलुग त, स नत आदि रूपो म, विविध उपसर्गों के साथ, कृद त रूप में और भी अ य प्रकार के सभावित रूपो में इस धातु का प्रयाग हो सकता है और होता है। जब 'भ धातु के कृद त रूप को लेते हैं, तब वह प्रातिपदिक बनता है। फिर उसके रूप लिंग, वचन तथा विभक्ति के कारण बहुधा भिन्न हो सकत है। भाव भव, भूति, भावना, भावी भाविनी, प्रभु, स्वयभू भू भूमि —ऐस शब्दों की सख्या कितनी होगी ? क्या ये सभी रूप वद म मिलत है ? कुछ रूप मिलत हैं कुछ नही मिलते। लोक म सब रूप प्राप्त है। कुछ तो मिलते है उनके पूवप्रयोग दष्ट हैं। कुछ दष्ट न होने पर भी मिल सकत हैं। भाष्यकार न किसी दूसरे प्रसग मे कहा है कि शब्दो का प्रयोग-क्षत्र अति विस्तृत है। प्रयाग की खोज करनी चाहिए—' उपलब्धौ यत्न क्रियताम। महान शब्दस्य प्रयागविषय ' (पस्पशाह्निक, पृ० ६२)। अत लोकभाषा म शिष्टसमत किसी रूप की उपेक्षा करना असभव है। कैयट के इस गूढ भाव का नागेशभट्ट ने स्पष्ट किया है—

"दृष्टत्वर्वेति। भाषाया तु सप्रति प्रयोगे अदष्टस्यापि व्याकरणा तरानुसारेण शिष्टप्रयोगादिना वा अवगतसाधुत्वस्यापि अनुविधानमित्यथ ।"

(प्रदीपोदद्योत १ १ ६, पृ० २३२)

१०४८१२ 'अदीधेत्', 'अदीधयु'—ये दो गुणसहित प्रयोग छ द म उपलब्ध हुए। किंतु 'दीधीङ' धातु ङित है। 'अनुदात्तङित आत्मनपदम्' । यहा परस्मपद प्रत्यय प्रयुक्त ह। इसकी उपपत्ति क्या है ? कयट ने कहा कि वद म परस्मप द आत्मनपद का व्यत्यय भी पाया जाता है। पाणिनि ने इस आशय का एक सूत्र लिखा— व्यत्ययो बहुलम्' (३ १ ८५)। इसकी व्याख्या म कहा गया है—'सुप् तिङ परस्मैपद आत्मनपद, लिंग, पुरुष, काल वण स्वर कृत प्रत्यय यङ् आदि प्रत्यय तथा विकरण प्रत्यय का व्यत्यय पाणिनि को अभीष्ट है। इसीलिए बहुलम् कहा गया है। इस अथ का श्लोक है—

१

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणा
कालहलच स्वरकत यडां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषा,
सोपि च सिध्यति बाहुलकेन।

इस व्यत्यय के विविध उदाहरण भट्टोजिदीक्षित ने कौमुदी में प्रदर्शित किये हैं (सिद्धान्तकौमुदी, सूत्र ३४३९, पृ० ५६२) काशिका में भी बताया गया है—'बहुलग्रहण सर्वविधिव्यभिचारार्थम्।' (३ १ ८५) अत यहाँ व्यत्यय से परस्मैपद का प्रयोग किया गया है।

१०४८१४ वार्तिककार ने फिर एक शंका उठायी कि यदि गुण का निषेध नहीं करें, तो 'दीध्यत्' कैसे सिद्ध होता है? गुण होने पर अयादेश से 'दीधयत' बनता। इस शंका के समाधान में कहा— दीध्यदिति इयन व्यत्ययेन'। 'इयन् विकरण प्रत्यय विहित है— दिवादिभ्य श्यन। दीधी धातु तो अदादि गण में पठित है। अत 'कर्तरि शप' से 'शप' और अदिप्रभृतिभ्य शप से उसका लोप प्राप्त है। किंतु व्यत्यय से यहाँ विकरण प्रत्यय श्यन् कर सकते है। यह प्रत्यय शित होने के कारण सार्वधातुक है। अपित होने से ङित माना जाता है—'तिङ् शित सार्वधातुकम्। सार्वधातुकमपित।' अत यहाँ गुण की प्राप्ति नहीं है। दीधी+य=दीध्य। यहाँ ईकार का लोप कैसे हो गया? यकारादि प्रत्यय के योग में दीधी, वेवी के ईकार का लोप विहित है— यीवर्णयोर्दीधी वेव्यो' (७ ४ ५३)। नागेशभट्ट ने पूर्वोक्त वार्तिक का पाठांतर भी दिया है—"शा व्यत्ययेन।' तुदादिभ्य श। यह विकरण प्रत्यय श अपित ङित है। दीधी+अ। ङित्व के कारण गुण नहीं होता। 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य'। (६-४-८२)। यणादेश होता है। दीध्यत। इस प्रकार वार्तिककार ने सिद्ध किया कि दीधी तथा वेवी में गुण का निषेध करना न केवल व्यर्थ है, अपितु उपलब्ध प्रयोगों के विपरीत होने के कारण अप्रामाणिक भी है।

१०४८१५ वार्तिककार ने इस सूत्र में 'दीधी और 'वेवी' धातुओं की चर्चा करके अपना निर्णय दिया कि इनके विषय में गुण निषेध की आवश्यकता नहीं है। किंतु उन्होंने 'इट' के विषय में कुछ नहीं कहा। भाष्यकार ने वार्तिक की अवतारिका में ही कह दिया— अयं योग शक्योऽवक्तुम।' संपूर्ण सूत्र का प्रत्याख्यान करना उनको अभीष्ट मालूम होता है। सूत्र का प्रत्याख्यान करें तो 'कणिता, श्वतिषम' इत्यादि में प्राप्त लघूपधगुण का निवारण कैसे होगा? भाष्यकार ने कहा कि इडागम का इकार अविकृत रहता है। उसका कोई आदेश नहीं होता। ऐसा नियम हम स्वीकार कर लेते हैं। इस नियम के कारण इट' के स्थान पर गुण नहीं हो सकता। नियम से गुण की निवृत्ति सिद्ध होने से इस सूत्र

मे गुणनिषेध क लिए 'इट्' का ग्रहण करना अपेक्षित नही है।

१०४८१६ ऐम नियम को मानने का आधार क्या है? भाष्यकार का कथन है कि 'आधधातुकस्यड वलादे' सून म 'इट' शब्द का प्रयोग व्यथ है क्योंकि "नड वशि कृति"—इस पूव सूत्र से इट' की अनुवृत्ति की जा सकती है। अत दुबारा 'इट' शब्द का प्रयोग करन का हम यही तात्पय समझत है कि 'इट इडेव भवति न कचिद विकारमाप्नाति।' इट ता 'इट' ही रहता है, उसका काई विकार नही हागा। द्वितीय इड्ग्रहण के आधार पर हम मह नियम बना सकते हैं। लेकिन इस नियम को स्वीकार करन पर एक और बाधा उपस्थित होती है। पढने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को पिपठी' कहते हैं। पठितु मिच्छति इति पिपठी। इस रूप की निप्पत्ति 'पठ धातु से होती है। इच्छा के अथ म सन प्रत्यय का विधान है। पठ+सन। यह सन प्रत्ययात (इच्छाथक, desiderative) धातु है— सनाद्यन्ता धातव।' 'सन प्रत्यय के कारण धातु का द्वित्व हाता है—'सनयडो।' पठ+पठ+सन। द्वित्व म पूव खड (इसे अभ्यास' कहत है) म पहला हल बचता है ठकार का लोप होता है— हलादि शेष'। प+पठ+सन। अभ्यास म अकार का इकार होता है—'सन्यत'। पि+पठ+सन। सन प्रत्यय का इडागम हाता है। पिपठ+इस। कर्ता के अथ में क्विप' प्रत्यय और उसका लोप हा जाता है। इस प्रकार एक सकारा त प्रातिपदिक बनता है—'पिपठिस्'। प्रथमा एकवचन मे 'सु प्रत्यय लगता है— पिपठिस+स।' हल त प्रातिपदिक के बाद 'स' का लोप विहित है। 'पिपठिस।' अब यह एक सुबन्त पद है। पदा त सकार का रत्व होता है— ससजुषो रु।' पिपठिर्। अब उपधाभूत इकार का दीघ होता है—"र्वोरुपधाया दीघ इक।' पिपठीर। पदान्त रफ विराम म विसग बनता है—'पिपठी। अब शका यह है कि यह इकार 'इट' है। उसका दीघ कैसे हो सकता है? आपन यह नियम बनाया कि इट' का काई विकार नहा होता। किंतु पिपठी म इट का दीघ हुआ है। इसकी उपपत्ति क्या है?

१०४८१७ भाष्यकार न शका क समाधान म कहा कि इस नियम के द्वारा आग काय (अगाधिकार म विहित काय) का ही निषेध करना अभीष्ट है। 'र्वोरुपधाया' (८ २-७६) अगाधिकार (६-४-१ से सप्तमाध्याय की समाप्ति तक अगाधिकार है।) स बहिर्भूत है। अत उपयुक्त नियम स त्रिपादिक विधि स प्राप्त दीघ का निषेध नही होता। 'शब्दकौस्तुभ म भट्टोजिदीक्षित न दिखाया है कि अगाधिकार म निहित दीघत्व की भी प्राप्ति सभव है। पिपठीपि ब्राह्मण कुलानि। यहाँ "सान्तमहत सयोगस्य (६ ४-१०) सूत्र स उपधा का दीघत्व होता है। आपका नियम इस दीघ का बाधक बनता है। दीक्षितजी ने निणय किया है कि नियम भाष्यकार न बताया, अत "पिपठीपि'—ऐसा दीघ सहित रूप

अप्रामाणिक है। भाष्य प्रामाण्य से हम मानते हैं कि 'पिपठिषि'—ऐसा दीर्घरहित रूप ही ग्राह्य है। उद्घात के लेखक नागेशभट्ट का मत है कि नियम की कल्पना एकदेश्युक्ति है। यह भाष्यकार का सिद्धांत नहीं है। इस विवेचन के बाद हम इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि सूत्र में 'इट' का ग्रहण सार्थक है। "इट इडेव भवति' —इस नियम की कल्पना तो प्रौढ़िवाद मात्र है। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि दुरवन का चिंतन वार्तिककार ने संयम के साथ किया है।

१०४९ एक और उदाहरण पर भी विचार करें। पाणिनि ने सवर्णसंज्ञा का विधान यों किया है—'*तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्* (१ १ ९)। टीकाकारों ने बताया कि 'आस्य' शब्द का अर्थ है 'तालु-आदि स्थान'। आस्ये भवमास्यम्। शरीरावयवाद्यत्। भाष्यकार ने इसी अर्थ में कहा कि यह लौकिक आस्य (मुख) नहीं है, अपितु तद्धितान्त है। 'प्रयत्न' शब्द का अर्थ आभ्यन्तर यत्न बताया। स्थान और आभ्यन्तर यत्न तुल्य हों तो ऐसे वर्ण एक दूसरे के सवर्ण माने जाते हैं। इस सवर्णसंज्ञा के सम्यक् ज्ञान के लिए उच्चारण-स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न का ज्ञान अपेक्षित है। शिक्षा ग्रंथों में इस विषय का निरूपण किया गया है। उन ग्रंथों के आधार पर कौमुदी में संक्षेप में स्थान प्रयत्न विवेक दिया गया है।

१०४९ १ आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में आचार्यों के दो मत हैं। कुछ आचार्य आभ्यन्तर प्रयत्न के चार भेद मानते हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत। 'क' से लेकर 'म' तक के पच्चीस वर्गीय व्यंजनों का प्रयत्न है 'स्पृष्ट'। "तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्।" "कादयो मावसानाः स्पर्शाः।" इस प्रयत्न के कारण ही इन वर्णों को 'स्पर्श' कहा जाता है। य, र, ल, व—ये चार अन्तःस्थ वर्ण हैं। इनका प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है। श, ष, स, ह—ये चार 'ऊष्म' वर्ण हैं। ऊष्म वर्णों और स्वरों का प्रयत्न विवृत है। ह्रस्व अकार का प्रयत्न संवृत है— 'ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्। विवृतमूष्मणां स्वराणां च।' (कौमुदी)

१०४९ २ अकार और हकार का स्थान कंठ है। इकार और शकार का स्थान तालु है। ऋकार और षकार का स्थान मूर्धा है। लृकार और सकार का स्थान दंत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अ, इ, ऋ, लृ—इन चार स्वरों के साथ ह, श, ष, स—इन चार ऊष्म वर्णों की स्थान तथा प्रयत्न की दृष्टि में समानता है। इन स्वरों के ऊष्म वर्ण सवर्ण होते हैं। अ ह, इ श, ऋ ष तथा लृ स की सवर्णता प्राप्त है। अकार का प्रयत्न संवृत है। किंतु प्रक्रिया की स्थिति में अकार को विवृत ही मानना चाहिए। 'अ इ उ ण्' सूत्र में उपात्त अकार विवृत ही है। अन्यथा उससे 'आ'कार का ग्रहण नहीं हो सकता। वार्तिककार ने इस बात को स्पष्ट किया है—'अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः।' धातुपाठ में, प्रत्यय में, गणपाठ में और अन्यत्र उपदेश में ह्रस्व अकार विवृत ही है। शास्त्रीय प्रक्रिया के अंत में विवृत के स्थान पर संवृत का आदेश विहित है—

"अ अ' (८-४-६८)। अत अ ह म प्रयत्न साम्य है।

१०४६३ यदि स्वर तथा ऊष्म वर्णों मे सवणता का मान लें तो क्या दाष है ? 'सवण' सना के कारण ऊष्म वण भी 'अच्' प्रत्याहार म समिलित हो जायेंग। तब कई प्रकार क दोप प्राप्त होते हैं। 'अच्' प्रत्याहार म कौन-कौन वण है ? अ इ उ, ऋ ल ए ओ और ए ओ—य नो वण इस प्रत्याहार मे हैं। अब दीघ या प्लुत को अच कैसे कह ? आ ई आदि दीघ तथा प्लुत वण अक्षरसमाम्नाय म नही है। किंतु य अक्षरसमाम्नाय म पठित अ, इ, उ आदि के सवण हैं। "अणुदित सवणस्य चाप्रत्यय ।" अ, इ, उ आदि वण अपने सवर्णों के ग्राहक होते हैं। अत आ' आदि दीघ और प्लुत भी 'अच्' प्रत्याहार म समिलित किये जाते हैं। यदि ऊष्म वण स्वरा के सवण हा, तो वे भी 'अच' प्रत्याहार के अतगत मान लिय जायेंग। एसी स्थिति म, दधि+हरति' म यण प्राप्त है। हकार अच है। ' इको यणचि। दधि+शीतलम' म सवण दीघ प्राप्त है। क्योंकि, शकार इकार का सवण है— 'अक सवर्णे दीघ ।' इसी प्रकार, 'दधि+षण्डम 'दधि+सा द्रम आदि म यण प्राप्त है। विश्वपा+भिस। यहाँ 'भिस' प्रत्यय के पूव जो प्रातिपदिक है उसे पद मानत हैं। 'स्वादिष्वसवनामस्थाने।" पदान्त म हकार का ढकार विहित है— 'हो ढ ।' हकार से सवणत्व के आधार पर आकार का भी ग्रहण हो, तो आकार को भी ढत्व प्राप्त होता है। एस और भी अनेक दोषो का कल्पना की जा सकती है। इन दोषो के निवारण के लिए पाणिनि न 'अच' और हल के सवणत्व का निषध किया—"नाज्झलौ"। (१ १-१०) स्थान और प्रयत्न की समानता के बावजूद अच और हल म सवणता नही मानी जाती। इस निषेध के कारण पूर्वोक्त समस्त दोषा का निराकरण हा जाता है।

१०४६४ इस सूत्र पर विचार करते हुए वार्त्तिककार ने पहले सवर्णत्व से प्राप्त दोष को बताया— तत्र सवणलोपे दोष । परशशतानि कार्याणि। इस उदाहरण म शकार का द्वित्व हा सकता है। द्वित्व करन पर तीन शकार होते हैं। उनम मध्यवर्ती शकार का लोप विहित है— 'झरो झरि सवर्णे" (८ ४ ६५)। 'हल' क बाद आनेवाल झर का लोप विकल्प से होता है यदि उसके बाद सवण झर हो। यदि शकार 'अच माना जाय तो यह पाक्षिक लोप प्राप्त नही होगा। भाष्यकार का वाक्य है—"तत्र सवणलोपे दोषो भवति। परशशतानि कार्याणि। झरो भरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोति।' (पृ० २६२) शकार को अच कस कह ? शकार और इकार सवण है। अत इकार से गृहीत शकार भी 'अच' हो सकता है। यदि शकार को किसी रूप म 'अच मानते हैं तो उसे हल' भी मानना चाहिए। 'हल' प्रत्याहार मे तो शकार है ही। अत शकार और शकार का सवणत्व भी खतरे म पड सकता है। भाष्यकार ने बताया है—

'अज्झलो प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञाया प्रतिषेधं प्राप्नोति। किं कारणम् ? अज्झलत्वात्। अच् चैव हि शकारो हल् च। कथं तावदच्त्वम् ? इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णाति इत्येवमच्त्वम्। हल्षु चोपदेशात् हल्त्वम्।"

(महाभाष्य, १ १-१०, पृ० २६२)

१०४६५ इस शंका का समाधान करते हुए वार्तिककार ने स्वयं कहा— "सिद्धमनच्त्वात्"। इसका तात्पर्य है कि शकार कदापि अच् नहीं हो सकता। इसलिए सवर्णलोप में कोई दोष नहीं है। शकार अच् क्यों नहीं हो सकता ? क्योंकि इकार और शकार में प्रयत्न भेद है। वार्तिककार इस वार्तिक में यह संकेत कर रहे हैं कि आभ्यन्तर प्रयत्न के पांच भेद होते हैं। ऊष्म वर्णों का प्रयत्न ईषद्विवृत है और स्वरों का विवृत है। जिस प्रकार स्पर्श वर्णों का प्रयत्न स्पृष्ट और अन्तस्था का ईषत्स्पृष्ट है और इस भेद के कारण स्पर्श और अन्तस्थ सवर्ण नहीं होते, उसी प्रकार ईषद्विवृत और विवृत में भेद होने के कारण ऊष्म वर्ण और स्वर भी सवर्ण नहीं होते। इकार सवर्णता के अभाव में शकार का ग्रहण नहीं कर सकता। अतः ऊष्म को अच् मानना कदापि संभव नहीं है। वार्तिककार का यह अभिप्राय है। भाष्यकार ने इसको स्पष्ट किया—

सिद्धमेतत्। कथम् ? अनच्त्वात्। कथमनच्त्वम् ? स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्। विवृतमूष्मणाम्। ईषदित्येवानुवर्तते। स्वराणां च विवृतम्। ईषदिति निवृत्तम्। (महाभाष्य, १- १०, पृ० २६२)

यहां परोक्ष रूप से वार्तिककार ने नाज्झलौ सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। अच् और हल् में सवर्णत्व की प्राप्ति कहां है ? अच्' का प्रयत्न विवृत है। हल् का प्रयत्न विवृत कदापि नहीं। स्पर्श है तो उसका प्रयत्न 'स्पृष्ट' है। अन्तस्थ है तो उसका प्रयत्न ईशतस्पृष्ट' है। ऊष्म है तो उसका प्रयत्न 'ईषदविवृत' है। इस प्रकार प्रयत्नभेद स्पष्ट है। अतः सवर्णत्व की प्राप्ति ही नहीं है। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि सवर्णत्वनिषेधक यह सूत्र व्यर्थ है। कैयट ने ऐसी व्याख्या की—

"सूत्रप्रत्याख्यानसाधारणमुक्तम्। प्रयत्नभेदादज्झलो सवर्णसंज्ञाया प्राप्ति रेव नास्तीत्यर्थः।

(भाष्यप्रदीप, प० २६३)

१०४६६ वार्तिककार ने एक अन्य प्रकार का भी समाधान प्रस्तुत किया है—'वाक्यापरिसमाप्तेर्वा"। वाक्य की अपरिसमाप्ति के कारण भी इस दोष का निराकरण सिद्ध है। वाक्य की अपरिसमाप्ति का अर्थ क्या है ? भाष्यकार

इसकी व्याख्या करते हैं—सबसे पहले वर्णसमाम्नाय में वर्णों का उपदेश हुआ। इसके बाद ही 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा की प्रवृत्ति होती है। उपदेश के अभाव में इत्संज्ञा विधायक सूत्र की प्रवृत्ति असंभव है। इत्संज्ञा की प्रवृत्ति के बाद ही प्रत्याहार की रचना संभव है। प्रत्याहार की निष्पत्ति 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र से होती है। इस सूत्र में 'इता' एक पद घटक है। अतः 'इत्' के ज्ञान के बिना प्रत्याहार का ज्ञान शक्य नहीं है। प्रत्याहार के बाद ही सवर्ण संज्ञा की निष्पत्ति होता है। सवर्ण संज्ञा के ज्ञान के बाद 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' से सवर्णग्राहकत्व की सिद्धि होती है। सवर्णसंज्ञा का ज्ञान 'नाज्झलौ' सूत्र के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार वर्ण समाम्नाय से लेकर ग्रहणक शास्त्र (अणुदित् सूत्र) तक सभी वाक्य सम्मिलित होकर—इस एकवाक्यता के द्वारा—अर्थ देते हैं। सवर्णग्राहकत्व की सिद्धि के बाद अन्यत्र 'इको यणचि' इत्यादि में 'अण्' सवर्णों का ग्राहक बन सकता है। 'नाज्झलौ' सूत्र में 'अच्' प्रत्याहार में वे ही वर्ण गृहीत होते हैं जो वर्ण समाम्नाय में पठित हैं। अतः 'अच्' में यहाँ इकार तो गृहीत है। किंतु उसमें सवर्णत्व के आधार पर शकार का ग्रहण नहीं हो सकता। वाक्यार्थ की निष्पत्ति क्रमिक है। अतः नाज्झलौ सूत्र की व्याख्या के समय में सवर्णग्राहक शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। भाष्यकार ने इस तर्क को यों प्रस्तुत किया है—

वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकाला इत्संज्ञा। इत्संज्ञोत्तरकाल 'आदिरन्त्येन सहेता' इति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा। सवर्णसंज्ञोत्तरकाल'मणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इति सवर्णग्रहणम्। एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येन अन्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति। न चात्रेकारः शकारं गृह्णाति।

(महाभाष्य, १-१-१०, पृ० २६१)

१०४६७ भाष्यकार का यह कथन, कि प्रत्याहार के बाद सवर्ण संज्ञा की निष्पत्ति होती है, कैसे उचित होगा? 'अणुदित् सवर्णस्य'—इस सूत्र में तो 'सवर्ण' पद घटक है। अतः इस सूत्र (ग्रहणक शास्त्र) की प्रवृत्ति सवर्ण संज्ञा पर निर्भर है। 'घटकपदार्थज्ञानं घटितपदार्थज्ञानस्य हेतुः'। किंतु सवर्ण संज्ञा विधायक सूत्र में प्रत्याहार का निर्देश नहीं है। 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्'। यहाँ तो प्रत्याहार का ज्ञान अपेक्षित नहीं है। तो कैसे कहा जाता है—'प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्ण संज्ञा'? इस शंका का उत्तर कैयट ने दिया है। उनका कहना है कि 'तुल्यास्य' सूत्र अकेला ही सवर्णसंज्ञा की निष्पत्ति नहीं कर सकता। निषेध स्थल का ज्ञान भी अपेक्षित है। 'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गो भिनिविशते'—अपवाद के विषय को छोड़कर अन्यत्र ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। 'नाज्झलौ' अपवाद है। तुल्यास्य सूत्र उत्सर्ग है। अतः नाज्झलौ का वाक्यार्थ जब तक निष्पन्न नहीं होता तब तक तुल्यास्य का वाक्यार्थ भी निष्पन्न नहीं हो

सकता। 'नाज्झलौ' में 'अच्' और 'हल' दोनों प्रत्याहार हैं। अतः यह कहना उचित ही है कि सवर्ण संज्ञा की निष्पत्ति प्रत्याहार पर आधारित है। कैयट के शब्द हैं—

"अस्मिन् हि सूत्रे निष्पन्ने सति अपवाद विषयपरिहारेण इष्टे विषये सवर्ण संज्ञा प्रवर्तते, न तु एतत्सूत्रनिष्पत्त्यवस्थायाम।" (प्रदीप, पृ० २६३)

१०४६८ वस्तुतः आभ्यन्तर प्रयत्न के पाँच भेद मानना आवश्यक है। ऊष्म वर्णों का प्रयत्न ईषद्विवृत है। स्वरों का विवृत है। प्रयत्न भेद के कारण स्वर तथा शल की सवर्णता प्राप्त नहीं है। इस सरल मार्ग का परित्याग करें तो और प्रकार के दोष प्राप्त होते हैं। वाक्यापरिसमाप्ति के तर्क से सिद्ध हुआ कि 'नाज्झलौ' में 'अच्' केवल वर्ण समाम्नायस्थ वर्णों का बोधक है। तो अ, इ, उ, ऋ — ये चार ह्रस्व वर्ण ही यहाँ 'अच्' में संगृहीत हैं। दीर्घ तथा प्लुत संगृहीत नहीं हो सकते। इस स्थिति में आकार और हकार का सवर्णत्व प्राप्त होता है। ई—श, ऋ—ष का भी सवर्णत्व दुर्वार है। सवर्णत्व का स्वीकार करें, तो 'विश्वपाभि' 'कुमारी शेते' इत्यादि में दोष प्रसक्त है। विश्वपाभि। यहाँ हकार से आकार का ग्रहण होने के कारण आकार के स्थान पर ढत्व प्राप्त होता है—"हो ढः।" हकार 'अण्' प्रत्याहार में आता है। यह 'अण्' प्रत्याहार 'लण्' सूत्र के णकार से बना है—'अणुदित् सवर्णस्य' परेण णकारेण। अतः हकार भी सवर्ण ग्राहक है। 'कुमारी शेते'। ईकार और शकार सवर्ण हैं। 'अकः सवर्णे दीर्घः।" यहाँ सवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है। भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि 'नाज्झलौ' सूत्र में आकार का प्रश्लेष करते हैं। उनका आशय है—"नाज्झलौ। इस सूत्र में पद-च्छेद यों करते हैं—न, आज्झलौ। आच् च हल् च आज्झलौ। यह आच् क्या है? आ+अच=आच्। आकारसहित अच् इत्यर्थः। आकार सहित अच और हल् सवर्ण नहीं होते। ऐसी व्याख्या करने से हकार और आकार का सवर्णत्व नहीं होता। 'विश्वपाभि' में ढत्व की प्राप्ति का दोष नहीं है।" फिर भी यह शंका बनी रहती है कि 'कुमारी शेते' में सवर्ण दीर्घ क्यों नहीं होता? दीक्षितजी का तर्क है कि 'अकः सवर्णे दीर्घः' में 'इको यणचि' से 'अचि' की अनुवृत्ति करते हैं। "अकः सवर्णे अचि परे दीर्घः स्यात्। ईकार और शकार सवर्ण तो हैं। किंतु शकार अच् नहीं है। अतः 'कुमारी शेते' में सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति नहीं है। कौमुदी में लिखा है— अचि किम्? कुमारी शेते।" (सू०८५, पृ० २१) शब्दकौस्तुभ में दीक्षितजी ने आकार और हकार की सवर्णता में कई दोषों की उद्भावना की। 'मालासु'। यहाँ षत्व की प्राप्ति है। 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः। इण्कोः। आदेश प्रत्यययोः।" हकार इण् प्रत्याहार में आता है। तत्सवर्ण होने के कारण दीर्घ आकार भी 'इण्' हो सकता है। इण् परत्वात् षत्व प्राप्त है। 'वाग्घसी'—यहाँ पूर्वसवर्ण प्राप्त है। 'झयो होऽन्यतरस्याम्।' 'वासीष्वम्' में "इणः षीध्व' सूत्र से मूर्धन्यादेश प्राप्त

है— 'गासीदृम" यह अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है। ऐसे कई दोषों की आपत्ति दिखाकर दीक्षितजी ने बताया कि "सवर्णेणग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणात"— इस वार्तिक के अनुसार जाति पक्ष का आश्रयण करने से हृकार आकार का ग्राहक नहीं बन सकता। उनका दूसरा तर्क आकार प्रश्लेष का है। इस प्रश्लेष का प्रमाण क्या है? 'कालसमय वेलासु तुमुन'—ऐसे सूत्रों में आकार के बाद सकार का पाठ नहीं किया गया। पाणिनि के ऐसे प्रयोग ही उक्त प्रश्लेष का संकेत देते हैं। दीक्षितजी ने एक तीसरा तर्क यह दिया है कि शिक्षा के अनुसार आकार अधिक विवृत है। अतः हृकार और आकार में प्रयत्नभेद विद्यमान है। शब्द कौस्तुभ में 'अइउण' सूत्र की व्याख्या में उन्होंने शिक्षा के वाक्य उद्धृत किये— 'विवृतकरणा स्वरा, स्तेभ्य ए ओ विवततरौ, ताभ्यां ऐ औ ताभ्यामप्याकारः। संवृतोऽकारः।' (शब्दकौस्तुभ,पृ० ८२) अतः में दीक्षितजी ने भाष्यकार को प्रमाण मानकर सिद्धान्त की बात कही है कि ऊष्मवर्ण ईषद्विवृत होते हैं, अतः प्रयत्न भेद के कारण सवर्णत्व की प्राप्ति नहीं है। तो 'नाज्झलौ' सूत्र की कोई उपयोगिता नहीं है— "भाष्यमते तु ऊष्मणामीषदविवततताभ्युपगमेन सावर्ण्य प्रसक्तिरेव नास्तीति सूत्रप्रत्याख्यानात सकलमनाविलम।"

(शब्दकौस्तुभ, १ १ १० पृ० २६६)

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वार्तिककार किसी आग्रह या द्वेष के कारण सूत्रों का प्रत्याख्यान नहीं करते। अपितु, पाणिनीय व्याकरण को सब प्रकार के संभावित दोषों से बचकर परिनिष्ठित बनाना ही वार्तिककार का लक्ष्य है।

१०४१० अधिकांश वार्तिक सूत्रकार के आशय की व्याख्या के लिए ही प्रवृत्त हैं। दोषदर्शन की इच्छा से प्रेरित नहीं हैं। उदाहरण के लिए अइउण सूत्र पर विचार करते हुए वार्तिककार कहते हैं कि यहां जो अकार पठित है उसे विवृत अकार के रूप में ग्रहण करना अभीष्ट है। यह संवृत नहीं है। "अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः। यदि यह संवृत होता तो इस अकार से दीर्घ तथा प्लुत आकार का ग्रहण संभव नहीं होता। यह विवृत है आकार भी विवृत है। अतः दोनों सवर्ण बनते है। सवर्णत्व के आधार पर अकार से आकार का ग्रहण हो सकता है। विवृतोपदेश का प्रयोजन बताकर सूत्र की व्याख्या करना यहां वार्तिक का लक्ष्य है। अतएव भाष्यकार ने कहा— विवृतस्य उपदिश्यमानस्य प्रयोजनमाख्यायते। (महाभाष्य, पृ० ८२)।

१०४१०१ पाणिनि का पहला सूत्र है— वृद्धिरादैच्" (१ १-१) इस पर कात्यायन ने विचार किया। पहले पाणिनि के भाषाप्रयोग पर ही पाठक के मन में शंका उत्पन्न होती है। एच् एक पद है। यहां चकार पदान्त है। चोः कुः। चकार का ककार प्राप्त है जैसे 'वाच्' का 'वाक्' होता है। तो यहां भी कुत्व से ऐच् का रूप ऐक् क्या नहीं हुआ? कुत्वं कस्मान्न भवति, चोः कुः,

पदस्यति।" 'पदस्य' (८ १-१६) एक अधिकार सूत्र है। यह अधिकार अपदान्तस्य मूर्धन्य' (८ ३ ५५) तक चलता है। 'चो कु (८ २ ३०) इस अधिकार के क्षेत्र म है। अत पदान्त चकार के स्थान म ककार का आदेश प्राप्त है। इस शका का उत्तर है—"यहाँ 'ऐच्' भ है। अत चकार पदात नही है। इसलिए कुत्व नहीं होता।' जब किसी प्रातिपदिक के बाद यकारादि या अजादि स्वादि प्रत्यय लगता है तब उसे 'भ' कहत है—' यचि भम।' किंतु यहा तो 'ऐच्' प्रथमा एक वचन म है। इसका प्रत्यय स है। यह तो सवनाम स्थान है, तथा हलादि भी। अत प्रथमा एकवचन म भ सना की प्राप्ति कस होगी? उत्तर है कि छद (वद) म ऐसे स्थानो म भी 'भ' सना विहित है— 'अयस्मयादीनिच्छान्दसि। (१-४-२०) अर्थात इन शब्दो म 'पद सज्ञा एव भ सज्ञा लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित है। अब एक और शका उठती है—' यह तो वद के लिए व्यवस्था बतायी गयी है। किंतु हम यहा पाणिनि के सूत्र पर विचार कर रहे हैं। वेद के सबध म उक्त नियम का सूत्र भाषा के विषय म उल्लेख करन से क्या लाभ ?" तब भाष्यकार अपना मत व्यक्त करत हैं— छन्दोवत सूत्राणि।' यह भाष्यकार की 'इष्टि' है। कयट न कहा— 'इष्टि चेय छन्दोवदिति। (प्रदीप, पृ० १६२) नागश न इस और स्पष्ट किया— ननु छन्दसि विहितस्य सूत्रे कथ प्रवत्ति रत आह—इष्टिरिति। तथा च भाष्यकारीयातिदशात सूत्रेप्यछ द कायप्रवृत्तिरिति भाव।' (उद्योत पृ० १६२)

१०४१०२ भाष्यकार कहते हैं कि पाणिनीय सूत्रो का सहितापाठ भी होता है। हमन अपनी सुविधा के लिए सूत्रो का पृथककरण कर लिया है। वृद्धिरादच। अदेट् गुण। इन सूत्रा का रूप सहितापाठ में एसा है—"वृद्धिरादैजदङ गुण।" यहाँ 'ऐच के चकार के स्थान पर जश्त्व से जकार हुआ है। जश्त्व का सूत्र है—' झलाजशोऽन्ते।' पदान्त म स्थित झल के स्थान पर जश विहित है। यदि 'एच' को 'भ' मानत हैं तो जश्त्व नही हो सकता। जश्त्व ता अभीष्ट है। उसकी सिद्धि के लिए 'ऐच' को पद मान लेते हैं, तो 'कुत्व' का वारण कैसे करेंगे ? उभयथा सकट है। जश्त्व के लिए पद सना अपेक्षित है तो कुत्वनिवत्ति के लिए भसना अपेक्षित है। अब वार्तिककार न इस समस्या का समाधान किया है— ''उभयसज्ञा यपिच्छन्दासि।" वेद मे लक्ष्य के अनुरूप भसज्ञा तथा पदसज्ञा की स्थिति मानना चाहिए। अत यहाँ कुत्वनिवृत्ति के लिए भसना जश्त्व के लिए पदसज्ञा—दोनो का आश्रयण करना उचित है। इस वार्तिक की व्याख्या म भाष्यकार कहत हैं—"उभयसनान्यपि छन्दासि दृश्यन्ते। तद्यथा—स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन।' पदत्वात कुत्व, भत्वात जश्त्व न भवति।' (पृ० १६२) 'ऋक्वता' मे 'ऋच' प्रातिपदिक चकारान्त है। पदसज्ञा मानकर कुत्व करन से 'ऋक' बन गया। 'वत्' प्रत्यय के कारण पदसज्ञा निबाध है—' स्वादिष्व।

सर्वनामस्थाने।" तो फिर जश्त्व क्यों नहीं होता? भसंज्ञा को मानने के कारण जश्त्व नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ भी व्यवस्था हो सकती है। अंतर इतना ही है कि प्रकृत सूत्र में पदसंज्ञा के कारण जश्त्व तो होता है, किंतु भसंज्ञा के कारण कुत्व नहीं होता। 'एवमिहापि पदत्वाज्जश्त्वं, भत्वान्न कुत्वं न भविष्यति।' (महाभाष्य, १. १. १ पृ० १६२)

१०.४.१०.३ यद्यपि 'छन्दोवत् सूत्राणि' भाष्यकार का वचन है, तथापि यह वचन वार्तिक की अवतारिका के रूप में आया है। भाष्यकार तो वार्तिक की पृष्ठभूमि बता रहे हैं। कात्यायन यह मानकर चल रहे हैं कि सूत्र छन्द के समान होता है। इस 'अतिदेश' के बावजूद समस्या का हल प्राप्त नहीं होता। भसंज्ञा को माने तो कुत्व की निवृत्ति सिद्ध है। लेकिन जश्त्व की उपपत्ति क्या होगी? पदसंज्ञा को मानें तो कुत्व की निवृत्ति के लिए क्या करें? यह संकट वार्तिक को जन्म देता है—'उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि।" इसमें संदेह नहीं है कि यह वार्तिक है। भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में स्पष्ट कहा—

"छन्दसि विहितस्य सूत्रे कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ती'ति भाष्यम्। इष्टिरियं भाष्यकृत।××× संज्ञाद्वयसमावेशस्तु उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यमिति वार्तिकवचनात्।"

(शब्दकौस्तुभ, १.१.१ पृ० १६१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कात्यायन एक आदर्श व्याख्याकार के रूप में पाणिनीय प्रयोगों का साधुत्व समर्थित कर रहे हैं। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पाणिनि का खंडन करने के लिए नहीं अपितु आलोच्य विषय का सर्वांगीण परीक्षण करने के लिए तथा दोषपरिमार्जन के लिए जागरूक रहती है। यह उक्त चिंतन का एक उदाहरण है।

१०.४.१०.४ प्रगृह्य संज्ञा का विधायक एक सूत्र है—'शे'।(१.१-१३) 'शे' एक प्रत्यय है। वेदभाषा में सुप्प्रत्यय के स्थान में विकल्प से इस आदेश का विधान किया गया है। इसमें प्रथम शकार इत् है—'लशक्वतद्धिते।' केवल एकार बचता है। शित्वात् सर्वादेश। अस्मद्+भ्यस्। 'भ्यस्' के स्थान में शे का आदेश। अस्मद्+ए। शेषे लोप। अस्मे। यह प्रगृह्य है। प्रगृह्य होने के कारण प्रकृतिभाव होता है अर्थात् संधि नहीं होती। अस्मे इन्द्राबृहस्पती। युष्मे इति। दीक्षितजी ने लिखा है कि पदपाठ के समय प्रगृह्यसंज्ञा के कारण संधि नहीं होती। त्वे इति। इस सूत्र में एक शंका होती है कि जिसको प्रगृह्य संज्ञा बतायी जा रही है वह एक प्रत्यय ही है या किसी शब्द में 'शे' अक्षर (syllable) होगा तो उसकी भी प्रगृह्य संज्ञा अभीष्ट है? कुशे, काशे वर्णे आदि कई शब्दों में श्—शकार और एकार का समुदाय—मिलता है। ये सप्तमी एकवचन हैं। अकारान्त प्रातिपदिक का सप्तम्येकवचन का रूप एकारान्त हो जाता है। सप्तमी का प्रत्यय 'इ'

है। अ+इ=ए। गुण हो जाता है। तो इन सप्तम्यन्त पदों में प्राप्त 'शे' की प्रगह्य संज्ञा क्यों नहीं होती ? हम कैसे जानें कि सूत्रकार सुपादेश 'शे' का ही प्रगह्य मानते हैं ? वार्तिककार ने इस शंका का समाधान किया है—'शे अर्थवद्ग्रहणम्।' एक परिभाषा (Rule of interpretation) है—अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्।" इसका अर्थ है कि जहां सार्थक इकाई का ग्रहण संभव है, वहां उसीकी विवक्षा की जाती है, निरर्थक इकाई की नहीं। 'शे' दो प्रकार के हैं—एक सार्थक है जो सुपादेश है। दूसरा 'काशे' आदि शब्दों का घटक एक अक्षर है, जो स्वयं निरर्थक है। उक्त परिभाषा से हम निर्णय कर सकते हैं कि प्रकृत सूत्र में सार्थक 'शे'—सुपादेश—का ही ग्रहण अभीष्ट है। भाष्यकार ने एक और उदाहरण प्रस्तुत किया—"हरिशे"। यहां मत्वर्थीय 'श' प्रत्यय प्रयुक्त है। 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः।' (५-२-१००) लोमादिगण के शब्दों में श प्रत्यय लगता है। बभ्रु, हरि आदि शब्द इस गण में पठित हैं। (काशिका, उत्तरार्ध, पृ० ६८) लोमानि अस्य सन्तीति लोमशः। एवं हरिशः, बभ्रुशः। सप्तम्येकवचन में रूप बनते हैं—हरिशे, लोमशे इत्यादि। यहां 'शे' निरर्थक नहीं है। 'श' तो मत्वर्थीय (Possessive) प्रत्यय है, इ' अधिकरणार्थक प्रत्यय है। अतः शे' सार्थक है। तो इसे भी प्रगह्य मानना पड़ेगा ? भाष्यकार का उत्तर है कि यहां भी 'शे' का कोई अर्थ नहीं है। 'श' और 'इ' दोनों प्रत्यय सार्थक हैं। किन्तु प्रत्ययसमुदाय 'शे' का अर्थ नहीं है—'एकोऽत्र विभक्त्यर्थेनार्थवान्, अपरश्च तद्धितार्थेन। समुदायोऽनर्थकः।' (महाभाष्य, १-१ १३, पृ० २८०) यदि दोनों प्रत्यय सार्थक हैं, तो प्रत्ययसमुदाय कैसे निरर्थक हो सकता है ? कैयट ने इसका उपपादन किया। "दश दाडिमानि षडपूपाः अधरोरुकमेतत् कुमार्याः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः ॥" यह एक पद समुदाय है। यहां प्रत्येक पद सार्थक है। किन्तु पदों का एक-दूसरे से संबंध नहीं है। अतः इसे समुदायार्थशून्य होने के कारण वाक्य नहीं मानते। तात्पर्य यह है कि सार्थक पदों का समुदाय भी परस्पर संबंध के अभाव में—अनन्वितार्थक होने के कारण—निरर्थक बन जाता है। श' प्रत्यय सार्थक है। इसी प्रकार सप्तमी का एक वचन 'इ' प्रत्यय भी सार्थक है। किन्तु इन दोनों प्रत्ययों के अर्थ परस्परान्वित नहीं हैं। श प्रत्यय का अर्थ प्रातिपदिकार्थ में अन्वित है। शप्रत्ययान्त प्रकृत्यर्थ तथा सप्तम्यर्थ का संबंध होता है। किन्तु तद्धितार्थ में विभक्त्यर्थ का अन्वय नहीं होता। अतः 'शे' समुदाय को हम अर्थवान् नहीं कह सकते। "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्।" इस प्रकार भाष्य में वार्तिक का भाव बतलाया गया है। यह भी उक्त चिंतन का—वार्तिककार के द्वारा सूत्रकार के समर्थन का—ही उदाहरण है।

१०.४.११ भाष्यकार पतंजलि भी कात्यायन आदि वार्तिककारों के समान तत्त्व निर्णय के लिए ही प्रवृत्त हैं। अतः उन पर भी पक्षपात का दोषारोपण

उचित नहीं है। वार्त्तिककार का खंडन करना या सूत्रकार का हर प्रकार से समर्थन करना उनका लक्ष्य नहीं है। आलोच्य विषय का समग्र परिशीलन करके अबाधित तथ्यों पर प्रकाश डालना ही उनका लक्ष्य है। कहीं कहीं वार्त्तिककार ने सूत्र की आलोचना नहीं की। वहां भी भाष्यकार अपनी ओर से सूत्र का विवेचन करते हैं। कहीं-कहीं सूत्रकार के अभिप्राय से सहमत न होने के कारण सूत्र का प्रत्याख्यान कर देते हैं। यहां सिर्फ एक उदाहरण पर विचार किया जाएगा।

१०४११ १ 'सर्वादीनि सर्वनामानि'। (१ १-२६) सर्वादि एक गण है। इस गण में पठित शब्द 'सर्वनामसंज्ञ' होते हैं। 'विश्व' शब्द भी इस गण में पठित है। 'विश्वे विश्वस्मै' आदि में सर्वनामकार्य हुआ है। 'जस् शी, ' सर्वनाम्नः स्मै ' आदि आदेश हुए हैं। किंतु विश्वं प्रियं यस्य सः —विश्वप्रिय अथवा प्रियविश्व, तस्मै प्रियविश्वाय—यहां सर्वनाम संज्ञा अभीष्ट नहीं है। सर्वनाम संज्ञा होती तो 'स्मै' आदेश प्राप्त होता, तो रूप बनता—' प्रियविश्वस्मै।' इसी प्रकार, त्वकं पिता यस्य सः =त्वत्कपितृक अहकं पिता यस्य सः —मत्कपितृक "—ये रूप इष्ट हैं। सर्वनाम संज्ञा होती तो 'अकच्' प्रत्यय होता—'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः।" मत्=मकच् ('टि' से पूर्व जोडने से) मकत्। त्वत्+अकच्—त्वकत्। संज्ञा के न होने पर 'क' प्रत्यय लगता है तो 'त्वत्कपितृक "मत्कपितृक —ये रूप सिद्ध होते हैं। ऐसे लक्ष्य की सिद्धि के लिए पाणिनि ने सूत्र बनाया—' न बहुव्रीहौ।' (१ १-२८) बहुव्रीहि समास में सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। इस निषेध के कारण, प्रियविश्वाय त्वत्कपितृक" आदि रूप सिद्ध होते हैं।

१०४११ २ इस सूत्र पर विचार करते हुए भाष्यकार ने पहली शंका यह की कि 'प्रियविश्वाय' यह रूप सिद्ध नहीं हो सकता। बहुव्रीहि समास में सर्वनाम का पूर्वनिपात विहित है। अतः 'विश्वप्रियाय' रूप बनता है। सर्वनाम का समास का पूर्वपद कर देने पर सर्वनामसंज्ञाहेतुक शीभाव स्मायादेशादि कार्य प्रवृत्त नहीं हो सकते। तो भाष्यकार ने कहा कि 'प्रिय' शब्द का पूर्वनिपात विकल्प में होता है—' इदं चापि उदाहरणम्। प्रियविश्वाय। ननु चोक्तं विश्वप्रियाय इति भवितव्यमिति। वक्ष्यत्येतत्— वा प्रियस्य' इति। (भाष्य, पृ० ३३५) इसी प्रकार 'मत्कपितृक' इत्यादि में अकच् की व्यावृत्ति के लिए बहुव्रीहि समास में सर्वनाम का प्रयोग पूर्वपद के रूप में हो या उत्तरपद के रूप में, उसमें संज्ञा का निषेध करना आवश्यक प्रतीत होता है। पूर्वपद में शीभावादि कार्य न होने पर भी सर्वनामत्व प्रयुक्त स्वर तथा अकच् प्रत्यय के कारण अंतर पड़ सकता है। ' त्वाङ्गिटामदन्तानाम्॥ (फिट्सूत्र २६ सिद्धांतकौमुदी, पृ० ६२५) इस फिट् सूत्र में सर्वनामों का आद्युदात्तत्व विहित है। तत्त्वबोधिनी (पृ० ६२४) में कहा गया है कि फिट् सूत्र अपाणिनीय हैं। किंतु भाष्यकार ने इन सूत्रों की प्रामाणिकता

स्वीकार की है। भाष्यप्रामाण्य के कारण पाणिनीय व्याकरण म फिट सूत्रों के अनुमार स्वर व्यवस्था स्वीकृत होती है। 'शिट सवनाम को कहते हैं। पूर्वाचार्यों के द्वारा यह सज्ञा व्यवहृत थी। सवनाम सज्ञा होगी तो आद्युदात्त स्वर होगा। अन्यथा 'फिपोऽन्त उदात्त' स अन्तोदात्त होगा। प्रातिपदिक को 'फिप' कहते हैं। इस प्रकार स्वर म अन्तर पड सकता है।

१०४।११३ अकच् प्रत्यय सवनाम मे विहित है। अन्य प्रातिपदिको म क प्रत्यय लगता है। 'क' और 'अकच' म क्या अतर है? अकारान्त प्रातिपदिको म 'क' और 'अक' दोनो मे कोई अन्तर नही। किन्तु हलत शब्दो म अन्तर जरूर पडता है। 'मत्' तकारान्त है। क' प्रत्यय तकार क बाद होगा—"मत्क"। 'अकच्' तो अकार से पूव लगेगा—"म्+अक+अत' (टे प्राक्)=मकत्। इस प्रकार रूप भेद स्पष्ट है। भाष्यकार न कहा है—"क चेदानी काकचो-विशेष? व्यञ्जनान्तपु विशेष। (भाष्य, पृ० ३३५) इकारान्त शब्दो म भी अन्तर स्पष्ट है। द्वि+क=द्विक। अकच् का रूप होगा— 'द्+अक+इ= द्वकि। कयट न लिखा है—

"व्यञ्जनान्तेष्विति। उपलक्षणमेतत। द्विक पुत्रो द्वकिपुत्र इत्यत्रापि विशेष-दर्शनात।"

(भाष्यप्रदीप, पृ० ३३५)

अन्त म भाष्यकार न अपना मतव्य प्रकट किया है कि बहुव्रीहि समास म सवनाम सज्ञा अभीष्ट है। आद्युदात्त स्वर तथा अकच् प्रत्यय साधु हैं। उनका निषेध नही करना चाहिए। त्वकतपितृक, मकत्पितृक —ऐसे रूप ही अभीष्ट हैं। भाष्य क शब्द हैं—

'गोनर्दीय आह—'अकच स्वरौ तु कतव्यौ प्रत्यङ्ग मुक्तसशयौ।' त्वकत पितको मकत्पितृक इत्येव भवितव्यम्।" (महाभाष्य, प० ३३६)

इसका तात्पय है कि पाणिनि का प्रकृत सूत्र 'न बहुव्रीहो' निरथक है। यह सूत्र का प्रत्याख्यान है। पाणिनि का मत ठीक नही है। भाष्यकार का वचन ही अतिम प्रमाण है। इस बात को कयट न स्पष्ट किया—

"सूत्रप्रत्याख्यान मेतत। यथोत्तर हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्।"

(वही, पृ० ३३६)

शब्दकौस्तुभ मे दीक्षितजी न भी ऐसी व्यवस्था दी—' भाष्ये तु त्वकत्पितक इत्याद्यव रूप स्वीकृत्य इद सूत्र प्रत्याख्यातम्। ××× यथोत्तर मुनीना प्रामाण्याद भाष्योक्त्या एव व्यवस्था इति अवधेयम।' (शब्दकौस्तुभ, १-१ २८ प० २०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाष्यकार भी लक्ष्यानुरोध से सूत्र का प्रत्याख्यान कर देत हैं।

१०४२ पतजलि का व्याकरण महाभाष्य प्रश्नोत्तर की शली मे लिखा गया है। यद्यपि यह व्याकरण शास्त्र का अतिप्रौढ ग्रथ है, फिर भी इसकी भाषा आश्चयजनक ढग से सरल है। सस्कृत के सरल गद्य म पतजलि न शास्त्र की गुत्थियो को सुलझाया है। ग्रथ का प्रारम्भ इन शब्दा से हुआ है—

"अथ शब्दानुशासनम। अथेत्यय शब्दोऽधिकाराथ प्रयुज्यते। शब्दानुशासन नाम शास्त्रमधिकृत वेदितव्यम। केषा शब्दानाम ? लौकिकाना वदिकाना च।"

(महाभाष्य, पस्पशाह्निक)

आचाय भत हरि न महाभाष्य पर एक टीका लिखी। उस टीका के कुछ अश प्रकाशित हैं। सपूण महाभाष्य पर कैयट न 'भाष्य प्रदीप' के नाम से याख्या लिखी है। प्राचीन वैयाकरणो म कयट का नाम विशेष आदर का पात्र है। प्रदीप के प्रारभिक पद्यो स ज्ञात होता है कि ये जयट के पुत्र थ इनके गुरु का नाम था महेश्वर।

"पदवाक्य प्रमाणाना
पार यातस्य धीमत।
गुरो महेश्वरस्यापि
कत्वा चरणवदनम ॥४॥
महाभष्याणवावार
पारीण विवतिप्लवम।
यथागम विधास्येऽह
कयटो जयटात्मज ॥५॥

सिद्धात कौमुदी' के लेखक प्रख्यात वयाकरण भट्टोजिदीक्षित ने महाभाष्य के ही आधार पर उसी क्रम से सूत्रो की व्याख्या करते हुए शब्दकौस्तुभ' नामक एक विशाल ग्रथ की रचना की। इनके बाद आनवाल नागेश भट्ट उच्च कोटि के वैयाकरण थे। उनके ग्रथ शब्देंदुशेखर' 'परिभाषेदुशेखर' 'मजूषा' आदि विद्वत्समाज मे समादर से गहीत हैं। इन ग्रथो के लघु सस्करण भी उपलब्ध हैं—लघु शब्देंदुशेखर तथा परम लघुमञ्जूषा। नागश ने भाष्यप्रदीप पर उद्द्योत' के नाम से व्याख्या लिखी है।

१०५ सस्कृत व्याकरण के विकास के साथ ही अय भारतीय भाषाओ मे भी व्याकरण का विकास होने लगा। तमिल भाषा म बहुत पहले भाषा वैज्ञानिक चितन का आरभ हुआ। तमिल का सव प्रथम याकरण ग्रथ है—'तोलकाप्पियम'। यह लगभग दो हजार वष पूव की रचना है। सस्कृत म पाणिनीय अष्टाध्यायी का जो स्थान है वही तमिल मे 'तोलकाप्पियम का है। तोल शब्द का अथ है पुराना। 'काप्पियम सस्कृत के 'काव्य का ही रूपातर है। वस्तुत इस ग्रथ म व्याकरण के साथ काव्यशास्त्र का भी समावेश किया गया है। इस ग्रथ मे

तीन अधिकार' या प्रकरण हैं। पहला ध्वनि प्रकरण है। दूसरा 'पद प्रकरण' है, जिसमे रूपविज्ञान की चर्चा की गयी है। तीसरा 'काव्य शास्त्र प्रकरण' है। संस्कृत के कुछ आलंकारिको ने अपने ग्रथो मे काव्यशास्त्र के संदर्भ मे कुछ व्याकरणिक बातो की भी चर्चा की है। भामह के काव्यालंकार मे, वामन की काव्यालंकार सूत्र वृत्ति मे तथा रुद्रट के काव्यालंकार मे व्याकरण की भी प्रासंगिक चर्चा की गयी है। तोलकाप्पियम मे व्याकरण प्रधान है, काव्यशास्त्र उसके साथ आनुषंगिक रूप मे आया है।

१०.५.१ कन्नड के प्रथम वैयाकरण नागवर्मा ने भी इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। उसने 'कर्णाटक काव्यावलोकन' नामक अपने ग्रंथ मे प्रथम खंड का नाम "शब्दस्मृति" रखा और उसमे कन्नड का व्याकरण प्रस्तुत किया। नागवर्मा ने साथ ही 'भाषाभूषणम' के नाम से कन्नड का एक संक्षिप्त व्याकरण संस्कृत भाषा के माध्यम से पाणिनीय शैली के सूत्रो मे लिखा। काव्यावलोकन प्रमुखत काव्य शास्त्रीय ग्रंथ है। तमिल और कन्नड मे इस प्रकार के व्याकरण ग्रथो की परंपरा चल पडी।

१०.५.२ तेलुगु, मराठी, हिंदी आदि भाषाओ मे भी इसी प्रकार प्रामाणिक व्याकरण ग्रंथ निर्मित हुए। भारतीय भाषाओ के व्याकरण की रचना मे पाश्चात्य विद्वानो का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिंदी का सर्व प्रथम व्याकरण एक विदेशी विद्वान की रचना है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान (Comparative philology) की उत्पत्ति के बाद तो इस दिशा मे बहुत काय किया गया। काल्डवेल ने द्राविड भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया। आधुनिक काल के प्रारंभ तक भारतीय भाषाओ के व्याकरण ग्रंथ संस्कृत के व्याकरण की पद्धति से प्रभावित थे। किंतु आधुनिक भाषा विज्ञान के संपर्क मे आने के बाद भारतीय विद्वान भी नये प्रकार के चिंतन मे लगे हुए हैं। कई भारतीय भाषाए अब तक उपेक्षित थीं। अब विद्वान उनके अध्ययन विवेचन मे प्रवृत्त हुए हैं।

१०.५.३ किंतु आज भी हम यह नहीं कह सकते कि भाषा विश्लेषण का काय हमने पूरा कर लिया है और हमने भाषा के समस्त तथ्यो का आत्मसात कर लिया है। ऐसा दावा कोई भाषा विज्ञानी नही कर सकता। आज भी भाषा विश्लेषण का प्रयास किया जा रहा है, अज्ञात तथ्यो की खोज हो रही है। अनुसंधान का काय निरंतर चल रहा है। इस संदर्भ मे यह बात कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि आधुनिक युग मे नवीन अनुसंधान की जितनी आवश्यकता है उतनी ही प्राचीन ज्ञान के आकलन और संरक्षण की भी है। प्राचीन और आधुनिक ज्ञान का समन्वय आज अपेक्षित है। कूप मंडूक वृत्ति के कारण नवीन ज्ञान की उपेक्षा करना उचित नही है। इसी प्रकार नवीनता के मोह के कारण

१०४१२ पतजलि का व्याकरण महाभाष्य प्रश्नोत्तर की शली मे लिखा गया है। यद्यपि यह व्याकरण शास्त्र का अतिप्रौढ ग्रथ है फिर भी इसकी भाषा आश्चयजनक ढग से सरल है। सस्कृत के सरल गद्य मे पतजलि न शास्त्र की गुत्थियो को सुलझाया है। ग्रथ का प्रारम्भ इन शब्दो से हुआ है—

"अथ शब्दानुशासनम। अथेत्यय शब्दोऽधिकाराय प्रयुज्यते। शब्दानुशासन नाम शास्त्रमधिकृत वेदितव्यम। केषा शब्दानाम ? लौकिकाना वदिकाना च।"

(महाभाष्य, पस्पशाह्निक)

आचाय भतहरि न महाभाष्य पर एक टीका लिखी। उस टीका के कुछ अश प्रकाशित हैं। सपूण महाभाष्य पर कैयट न 'भाष्य प्रदीप' के नाम से व्याख्या लिखी है। प्राचीन वैयाकरणो म कैयट का नाम विशेष आदर का पात्र है। प्रदीप के प्रारभिक पद्यो स ज्ञात होता है कि ये जयट के पुत्र थे इनके गुरु का नाम था महेश्वर।

"पदवाक्य प्रमाणाना
पार यातस्य धीमत।
गुरो महेश्वरस्यापि
कत्वा चरणवदनम ॥४॥
महाभष्याणवावार
पारीण विवतिप्लवम।
यथागम विधास्येऽह
कयटो जयटात्मज ॥५॥

सिद्धात कौमुदी' के लेखक प्रख्यात वयाकरण भट्टोजिदीक्षित न महाभाष्य के ही आधार पर उसी क्रम से सूत्रो की व्याख्या करते हुए शब्दकौस्तुभ' नामक एक विशाल ग्रथ की रचना की। इनके बाद आनवाले नागेश भट्ट उच्च कोटि के वैयाकरण थे। उनके ग्रथ शब्देंदुशेखर' परिभाषेंदुशखर' 'मजूषा' आदि विद्वत्समाज मे ससादर से गहीत ह। इन ग्रथो के लघु सस्करण भी उपलब्ध हैं— लघु शब्देंदुशेखर तथा परम लघुमञ्जूषा। नागेश ने भाष्यप्रदीप पर उद्द्योत' के नाम से व्याख्या लिखी है।

१०५ सस्कृत व्याकरण के विकास के साथ ही अन्य भारतीय भाषाओ मे भी व्याकरण का विकास होन लगा। तमिल भाषा मे बहुत पहले भाषा वैज्ञानिक चितन का आरभ हुआ। तमिल का सव प्रथम व्याकरण ग्रथ है— तोल्-काप्पियम'। यह लगभग दो हजार वष पूव की रचना है। सस्कृत म पाणिनीय अष्टाध्यायी का जो स्थान है, वही तमिल मे 'तोलकाप्पियम' का है। 'तोल शब्द का अथ है पुराना। 'काप्पियम्' सस्कृत के 'काव्य' का ही रूपातर है। वस्तुत इस ग्रथ म व्याकरण के साथ काव्यशास्त्र का भी समावश किया गया है। इस ग्रथ म

तीन अधिकार' या प्रकरण हैं। पहला ध्वनि प्रकरण है। दूसरा 'पद प्रकरण' है, जिसमे रूपविज्ञान की चर्चा की गयी है। तीसरा 'काव्य शास्त्र प्रकरण' है। संस्कृत के कुछ आलकारिको ने अपने ग्रथो मे काव्यशास्त्र के संदर्भ मे कुछ व्याकरणिक बातो की भी चर्चा की है। भामह के काव्यालकार मे, वामन की काव्यालकार सूत्र वृत्ति मे तथा रुद्रट के काव्यालकार मे व्याकरण की भी प्रासगिक चर्चा की गयी है। तोल्काप्पियम' मे व्याकरण प्रधान है, काव्यशास्त्र उसके साथ आनुषंगिक रूप मे आया है।

१०५१ कन्नड के प्रथम वैयाकरण नागवर्मा ने भी इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। उसने 'कर्णाटक काव्यावलोकन' नामक अपने ग्रथ मे प्रथम खंड का नाम "शब्दस्मृति" रखा और उसमे कन्नड का व्याकरण प्रस्तुत किया। नागवर्मा ने साथ ही 'भाषाभूषणम' के नाम से कन्नड का एक संक्षिप्त व्याकरण संस्कृत भाषा के माध्यम से पाणिनीय शैली के सूत्रो मे लिखा। काव्यावलोकन प्रमुखत काव्य शास्त्रीय ग्रथ है। तमिल और कन्नड मे इस प्रकार के व्याकरण ग्रथो की परपरा चल पडी।

१०५२ तेलुगु, मराठी हिंदी आदि भाषाओ मे भी इसी प्रकार प्रामाणिक व्याकरण ग्रथ निर्मित हुए। भारतीय भाषाओ के व्याकरण की रचना मे पाश्चात्य विद्वानो का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिंदी का सर्व प्रथम व्याकरण एक विदेशी विद्वान की रचना है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान (Comparative philology) की उत्पत्ति के बाद तो इस दिशा मे बहुत कार्य किया गया। काल्डवेल ने द्राविड भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया। आधुनिक काल के प्रारभ तक भारतीय भाषाओ के व्याकरण ग्रथ संस्कृत के व्याकरण की पद्धति से प्रभावित थे। किंतु आधुनिक भाषा विज्ञान के संपर्क मे आने के बाद भारतीय विद्वान भी नये प्रकार के चिंतन मे लगे हुए है। कई भारतीय भाषाए अब तक उपेक्षित थी। अब विद्वान उनके अध्ययन विवेचन मे प्रवृत्त हुए हैं।

१०५३ किंतु आज भी हम यह नही कह सकते कि भाषा विश्लेषण का कार्य हमने पूरा कर लिया है और हमने भाषा के समस्त तथ्यो को आत्मसात कर लिया है। ऐसा दावा कोई भाषा विज्ञानी नही कर सकता। आज भी भाषा-विश्लेषण का प्रयास किया जा रहा है, अज्ञात तथ्यो की खोज हो रही है। अनुसधान का कार्य निरतर चल रहा है। इस संदर्भ मे यह बात कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि आधुनिक युग मे नवीन अनुसधान की जितनी आवश्यकता है उतनी ही प्राचीन ज्ञान के आकलन और संरक्षण की भी है। प्राचीन और आधुनिक ज्ञान का समन्वय आज अपेक्षित है। कूप मडूक वृत्ति के कारण नवीन ज्ञान की उपेक्षा करना उचित नही है। इसी प्रकार नवीनता के मोह के कारण

प्राचीन ज्ञान की उपेक्षा करना भी मूर्खता ही है। अतएव आधुनिक काल के भाषाविज्ञानी पाणिनि का अध्ययन करते हैं। भारतीय भाषाविज्ञानियों का यह कर्तव्य है कि वे पाणिनि का नाम लेने मात्र से संतुष्ट न हों, बल्कि स्वयं भी उसके व्याकरण का अध्ययन करें। हमें अपने प्राचीन ज्ञान के समृद्ध भंडार का पूरा उपयोग करना चाहिए। इस दृष्टि से पाणिनि का अध्ययन आज भी लाभदायक हो सकता है।

दूसरा अध्याय

भाषा का स्वरूप

१ भारतीय आचार्यों ने भाषा के स्वरूप पर काफी गहराई से विचार किया है। एक दृष्टि तो श्रद्धा और आस्था की है। मानव जीवन में भाषा का सर्वाधिक महत्त्व है। भाषा की उपयोगिता इतनी व्यापक है कि वह हमारे जीवन के अंग-अंग में ओत प्रोत है। उपनिषद की यह घोषणा है—

"यद् वै वाङ् नाभविष्यत् न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यत, न सत्यं नानृतं, न साधु नासाधु, न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञ, वागेव एतत् सर्व विज्ञापयति, वाचमुपास्स्वेति।"

(छान्दोग्य, ७ २ १)

वाक् या भाषा न होती तो धर्म और अधर्म सत्य और असत्य, साधु और असाधु आदि का भेद ही ज्ञात नहीं हो सकता। भाषा के बिना मानव का सामाजिक व्यवहार संभव नहीं है। अतएव भारतीय संस्कृति ने भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से वाक् को एक देवता का स्थान दे दिया। वह देवी सरस्वती है, ब्रह्मा की पत्नी है, समस्त विद्याओं की जननी है। विद्यानाथ ने लिखा—'दारान् पद्मभुव वन्दे गिरा देवताम्॥" अमरकोश की पंक्ति है—'गीर्वाग् वाणी सरस्वती।" इस वाणी में लक्ष्मी का निवास है। ऋग्वेद का मंत्र कहता है—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥'

(महाभाष्य, पस्पशाह्निक में उद्धृत)

२ यह तो हुई श्रद्धा की दृष्टि। दूसरी दृष्टि है वैज्ञानिक परीक्षण की। भाषा के अंतरंग बहिरंग का स्वरूप जानने के लिए हमारे पूर्वजों ने वैज्ञानिक काल से ही प्रयास किया था। "उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।" जो भाषा के बाह्य पक्ष को ही जानते हैं वे वस्तुतत्त्व को नहीं जानते। अतएव इस मंत्र में कहा गया कि देखते हुए भी वे वाक् को नहीं देखते,

सुनते हुए भी नही सुनते। अर्थात हम भाषा का प्रयोग तो करते हैं, किंतु भाषा के मर्म को—उसके अंतरंग को—नही जानते। उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासा।" कोई भाषाविद ऐसा साहसी शोधकर्ता होता है कि उसके प्रयासो से भाषा के रहस्य एक-एक करके खुलने लगते हैं। धातु प्राति पदिक प्रत्यय, उपसर्ग आदि का पृथक्करण होता है। भाषा एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था के स्वरूप को जानने पर हम भाषा पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। किसी भाषा की अंतर्निहित व्यवस्था को समझने के लिए शोध की आवश्य कता है। यही वाणी की उपासना है, ज्ञानार्थ तपस्या है। भारतीय आचार्यों ने ऐसी विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से भाषा का गंभीर विवेचन किया है।

३ सबसे पहले हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भाषा क्या है? सामान्य दृष्टि से विचार करने वाले शायद इस प्रश्न को निरर्थक समझेंगे। भाषा शब्दों या वाक्यों का समूह है। इसमे विचार करने योग्य क्या रहस्य की बात है? किंतु यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। वाक्य किस प्रकार बनते हैं? वे तो शब्दों के समुदाय हैं। किसी क्रम विशेष में अवस्थित तथा एक तात्पर्य से संघटित शब्दों को ही तो वाक्य कहते हैं। ये शब्द क्या हैं? ध्वनियों के गुच्छ ही क्रम विशेष में आबद्ध होकर शब्द कहलाते हैं। तो हम इस परिणाम पर पहुँचे कि भाषा ध्वनियों की एक व्यवस्था है। इन ध्वनियों का अर्थ से क्या संबंध है? ध्वनि से अर्थ का बोध कैसे उत्पन्न होता है? किस अर्थ में किस ध्वनि का प्रयोग करना चाहिए? क्या प्रत्येक ध्वनि का कुछ अर्थ होता है? ध्वनियाँ तो सीमित हैं, किंतु उनसे प्रतिपाद्यमान अर्थ वस्तुतः अनंत है। सीमित ध्वनियों के द्वारा अनन्त अर्थों का प्रकाशन किस प्रकार किया जाता है? शब्द में जो अर्थ बोधन की क्षमता है, उसका आधार क्या है? कुछ शब्द सार्थक हैं तो कुछ निरर्थक क्यों होते हैं? अर्थ का निर्णय करने के लिए कौन सा साधन है? शब्द और अपशब्द का भेद क्या है? इस प्रकार के कई प्रश्न जिज्ञासु के मन में उठते हैं।

४ ऐसे समस्त प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर देने का प्रयास शास्त्रकारों ने किया है। मीमांसा दर्शन वाक्य विचार के लिए ही प्रवृत्त हुआ। वेदों के दो भाग हैं—कर्मकांड और ज्ञानकांड। कर्मकांड को पूर्व भाग कहते हैं। इसमें यज्ञ, तप आदि विविध कर्मों का निरूपण किया गया है। इस कांड की व्याख्या के लिए महर्षि जैमिनि ने एक शास्त्र का प्रवचन किया, जिसे 'पूर्वमीमांसा' या 'कर्ममीमांसा' कहते हैं। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' मीमांसा का प्रथम सूत्र है। द्वादश अध्यायों का यह एक महान् शास्त्र है। इसमें वेद वाक्यों का तात्पर्य निर्णय किया गया है। इसी कारण से मीमांसा को भारतीय परम्परा में 'वाक्य' शास्त्र कहा जाता है। महर्षि बादरायण ने वेदों के उत्तर भाग—इसी को उपनिषद्, ज्ञानकांड या वेदान्त कहते हैं—पर व्याख्या करने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना की। यह ग्रंथ चार

अध्यायो म विभक्त है। इसे उत्तरमीमासा, ब्रह्ममीमासा या शारीरक मीमासा कहत हैं। यह दशन भी वदवाक्यो की व्याख्या के लिए प्रवृत्त हुआ। इन दोना प्रकार के मीमासाशास्त्रो म 'वाक्य' का विवचन किया गया है। भाषा सबधी कतिपय महत्त्वपूण प्रश्ना का उत्तर मीमासा म प्राप्त होता है। भाषा विज्ञान के विद्यार्थी को मीमासा से उपयुक्त सामग्री का सकलन करना चाहिए।

५ भाषा पर विचार करन वाला एक और शास्त्र है "यायदशन'। यहा 'याय के ग्रतगत वशेषिक का भी समाहार विवक्षित है। याय को 'तकशास्त्र' भी कहत हैं। तार्किक और नैयायिक पर्याय हैं। तकशास्त्र म चार प्रमाण स्वीकार किए गए है—प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द। इन प्रमाणा के विषय म कूलकष विवचन करन के ही कारण भारतीय परम्परा मे याय को 'प्रमाण की सज्ञा दी गयी। चार प्रमाणो म अतिम है शब्द। अत "यायशास्त्र के आचार्यों न शब्द प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया है। आप्तवाक्य शब्द। आप्तस्तु यथाथ वक्ता।' इस प्रकार शब्द का स्वरूप बतलाकर शब्द की शक्तिया, शक्तिग्राहक प्रमाण आदि विविध विषयो का सागोपाग विवेचन किया गया है। "युत्पत्तिवाद', 'शब्दशक्तिप्रकाशिका आदि प्रौढ ग्रथा म शब्दतत्त्व का निरूपण हुआ है। आधुनिक भाषा विज्ञान क विद्यार्थी को याय दशन के विविधग्रथा म बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

६ भाषा का ही एक विशिष्ट रूप है 'काव्य भाषा'। काव्य भाषा म सौंदय तत्त्व प्रमुख रहता है। इस सौंदय के उपकरण क्या हैं? गुण अलकार आदि पर इसी दष्टि स विचार किया गया है। भारतीय परपरा म, काव्य भाषा के स्वरूप पर विचार करन वाले शास्त्र का नाम है 'अलकार शास्त्र। इस शास्त्र के विद्वानो को 'आलकारिक' कहत हैं। आधुनिक भाषा मे इसे 'काव्य शास्त्र' कहते है। भरत मुनि स लेकर पडितराज जग नाथ तक आलकारिको की एक सुदीघ परम्परा रही है। अलकार शास्त्र मे कई सप्रदायो का विकास हुआ। सवप्रथम अलकार सप्रदाय ही है। वस्तुत य अलकार क्या हैं? अभिधाविच्छित्तिविशेषा एव अलकारा।" अभिधा के कुछ रोचक प्रकार ही अलकार कहलाते हैं। पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, ताद्रूप्य रूपक अभेद रूपक, समासोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर आदि अलकार अभिधा पर ही आधारित है। कही केवल अभिधा का प्रताप है, तो कही उसके साथ लक्षणा का भी सयोग है। शब्द की एक तीसरी शक्ति है "यञ्जना। इसी क आधार पर ध्वनिसप्रदाय की स्थापना हुई। ध्व यालाक के प्रख्यात लेखक आचाय आन द-वधन ने ध्वनितत्त्व की विस्तत व्याख्या करके यह घोषणा की—"का यस्यात्मा ध्वनि।' ध्वनि के तीन भेद माने गए— वस्तु अलकार और रस। इनम स रस को ही प्रधान मानते है। अतएव 'साहित्यदपण' के लेखक विश्वनाथ न कहा— 'वाक्य रसात्मक काव्यम।" यह रस व्यग्य ही होता है। स्वश दवाच्यत्व का रस

दोष कहते हैं। इस प्रकार रस सिद्धांत की आधारशिला व्यजनावृत्ति ठहरती है। अलकार शास्त्र म काव्य भाषा का मार्मिक विवेचन किया गया है। भाषा विज्ञान की एक नयी शाखा शैली विज्ञान तो अलकार शास्त्र का ही एक अग है। अर्थविज्ञान, व्युत्पत्ति विज्ञान आदि अय शाखाओं का भी अलकार शास्त्र के साथ घनिष्ठ सबध है, अत हम नि सकोच होकर कह सकते हैं कि भाषा विज्ञान की पर्याप्त सामग्री अलकार शास्त्र के ग्रथा म प्राप्त होती है।

७ व्याकरण तो मुख्य रूप से भाषा का ही विवेचन करता है। प्राचीन परम्परा में व्याकरण को 'पद' कहते हैं। इस शास्त्र का दूसरा नाम है 'शब्द-शास्त्र'। वैयाकरणा को 'शब्दवित् या 'शाब्दिक' भी कहते हैं। पतजलि ने महाभाष्य का आरभ इन शब्दों से किया है—

"अथ शब्दानुशासनम्। शब्दानुशासन नाम शास्त्रमधिकृत वेदितव्यम्।"

व्याकरण को उन्होंने शब्दानुशासन कहा। शब्द दो प्रकार के होते हैं— वदिक तथा लौकिक। दोनों मे समानताए भी हैं और अतर भी। कुछ ग्रथो म केवल वैदिक शब्दों का अध्ययन किया गया था। प्रातिशाख्य इसके उदाहरण हैं। कुछ ग्रथा म लौकिक शब्दों का ही विवेचन किया गया था। अत पाणिनीय व्याकरण के विषय म जिज्ञासा हुई— 'केषा शब्दानाम ?' आपके व्याकरण म किस प्रकार के शब्दो का विवेचन होगा ? पतजलि का उत्तर है—"वदिकाना लौकिकाना च। हमारा यह व्याकरण वदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के समस्त शब्दों का विवेचन करता है। ध्यान देने की बात है कि पतजलि बार-बार "शब्द शब्द' का प्रयोग कर रहे हैं। 'सिद्धे शब्दार्थ सबधे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोग शास्त्रेण धर्मनियम।" 'शब्दानुशासन मिदानी कर्तव्यम। तत्कथ कर्तव्यम ? किं शब्दोपदेश कर्तव्य ?' (पृ० ३६) 'एकैकस्य शब्दस्य बहवो ऽप भ्रशा।' (पृ०४१) "कथ तर्हीम शब्दा प्रतिपत्तव्या ?' (पृ०४३) 'सन्ति व शब्दा अप्रयुक्ता।" (पृ० ५८) 'यथव शब्दज्ञाने धर्म, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्म।' (पृ० ६३) "शब्देन्युउथ' (पृ० ६६) यह भी कहा गया है कि एक भी शब्द को सही ढग म जानकर सही रूप मे उसका प्रयोग करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है—"एक शब्द सम्यग ज्ञात सुष्ठु प्रयुक्त स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।' इस प्रकार के वचनो से प्रतीत होता है कि व्याकरण म केवल शब्द' यानी पद (Word) पर विचार किया जाता है। अर्थात यह पद रचना (Morphology) का—रूप विज्ञान का—शास्त्र है। मीमासा म वाक्य का विचार करते है तो व्याकरण म केवल पदा का विचार करते हैं। ऐसी धारणा उक्त वाक्यो को देखने से बनती है।

८ किंतु सत्य यह है कि व्याकरण मे पद रचना के साथ वाक्य रचना पर भी विचार किया गया है। पाणिनि ने लकारार्थ तथा विभक्त्यर्थ पर विस्तार से विचार किया है। सात विभक्तियाँ है। इनके विविध अर्थ होते हैं। कुछ

(२) कर्म — 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म।' १ ४ ४९

(३) करण — 'साधकतमं करणम्।' १ ४ ४२

(४) सम्प्रदान — 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्।' १ ४ ३२

(५) अपादान — "ध्रुवमपायेऽपादानम्।" १ ४ २४

(६) अधिकरण — "आधारोऽधिकरणम्।" १ ४ ४५

यह कारक प्रकरण है। अतएव प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में कारकों का निरूपण करके विभक्तियों का विधान द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में दूसरे प्रकरण में किया है। विभक्ति रूप नहीं है। कारक विभक्ति का अर्थ है। पाणिनि ने इस भेद को बहुत स्पष्ट किया है।

८ ३ विभक्ति प्रकरण 'अनभिहिते' (२ ३ १) इस अधिकार सूत्र से आरम्भ होता है। 'कर्मणि द्वितीया' (२ ३ २) आदि सूत्रों से विभक्तियों के विविध अर्थ बताए गए हैं। विभक्तियों का अर्थ केवल कारक ही नहीं होता। कारकेतर अर्थ में भी विभक्तियों का प्रयोग होता है। षष्ठी का अर्थ संबंध है— 'षष्ठी शेषे।' (२-३ ५०) 'काशिका' वृत्ति में लिखा है—'कर्मादिभ्योऽन्यः, प्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिसंबन्धादिः शेषः, तत्र षष्ठी विभक्तिर्भवति। राज्ञः पुरुषः, पशोः पादः, पितुः पुत्रः।' (काशिका, पूर्वार्ध पृ० १२६) कुछ विभक्तियाँ किसी प्रत्यय या प्रातिपदिक के योग के कारण प्राप्त होती हैं। ये कारकार्थक नहीं होतीं। पदान्तर संबंध के कारण प्राप्त विभक्ति को 'उपपद-विभक्ति' (morphologically conditioned) कहते हैं। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) अन्तरान्तरेण युक्ते। २—३—४ द्वितीया विहित है। 'अन्तरा त्वां च

मां च कमण्डलु ।" "अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चित् लभ्यते।" (काशिका, पृ० ११६)

(२) नमः स्वस्ति स्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च। (२ ३ १६)
'नमः' आदि शब्दों के योग में चतुर्थी विहित है। नमो देवेभ्यः। स्वस्ति प्रजाभ्यः। स्वाहाऽग्नये। स्वधा पितृभ्यः। अलं मल्लो मल्लाय। वषडग्नये। (काशिका, पूर्वार्ध पृ० १२१ १२२)

(३) सहयुक्तेऽप्रधाने। (२-३-१६)
तृतीया विहित है। पुत्रेण सह आगतः पिता। (काशिका पृ० १२२)

(४) षष्ठी हेतुप्रयोगे। (२ ३-२६)
"अन्नस्य हेतोर्वसति।" (वही, पृ० १२४)

८ २ १ कुछ विभक्तियां प्रत्यय निमित्तक हैं। किसी विशेष प्रत्यय के कारण कोई विभक्ति प्राप्त होती है। केवल प्रत्यय का तो प्रयोग नहीं हो सकता— 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि प्रत्ययः।' प्रत्ययान्त पद ही प्रयोगार्ह है। इन प्रत्ययनिमित्तक विभक्ति को भी एक प्रकार से उपपदविभक्ति के वर्ग में ही रख सकते है। इसके कुछ उदाहरण हैं—

(१) षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन। (२ ३-३०)
दक्षिणतो ग्रामस्य। उत्तरतो ग्रामस्य। 'अतसुच्' प्रत्ययान्त पद के कारण यहां षष्ठी प्रयुक्त है।

(काशिका, पृ० १२५)

(२) एनपा द्वितीया। (२ ३ ३१)
दक्षिणेन ग्रामम्। उत्तरेण ग्रामम्।" 'एनप्' प्रत्ययान्त पद के कारण यहां द्वितीया प्रयुक्त है। (वही, पृ० १२५)

८ २ २ द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में कुल तिहत्तर (७३) सूत्र हैं। ये सभी सूत्र विभक्ति विधानार्थ ही हैं। कारक प्रकरण के सूत्रों की संख्या तत्तीस है। इस प्रकार एक सौ से भी अधिक सूत्रों में पाणिनि ने विभक्त्यर्थ का निरूपण किया है। यह प्रकरण रूपरचना या प्रक्रिया के लिए नहीं बना। किस प्रत्यय का रूप क्या होता है? कहां उसका रूपांतर होता है? प्रत्यय के कारण प्रकृति (प्रातिपदिक) में क्या विकार उत्पन्न होता है? यह पदरचना की बात है। प्रथमाध्याय के कारक प्रकरण में तथा द्वितीयाध्याय के विभक्ति प्रकरण में पदरचना की प्रक्रिया के संबंध में कुछ भी नहीं कहा गया है। वे बातें अंगाधिकार में—षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद से लेकर सप्तमाध्याय की समाप्ति तक—बतायी गयी हैं। कुछ संधि की बातें भी षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद में उक्त हैं। कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं —

१ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्। (६ १ ६८)

२ एङ ह्रस्वात ■ बुदधे (६-१ ६९)
३ ओतोऽम्शसो । (६-१ ९३)
४ प्रथमयो पूवसवण । (६ १ १०२)
५ तस्माच्छसो न पुसि । (६ १-१०३)
६ अमि पूव । (६ १-१०७)
■ एरनेकाचोऽसयोगपूर्वस्य (६-४-८२)
■ टाङसिङसामिनात्स्या । (७ १-१२)
९ स्वमानपुसकात । (७ १-२३)
१० साम आकम । (७ १ ३३)
११ अष्टन आ विभक्तौ । (७ २ ८४)
१२ जराया जरसन्यतरस्याम । (७ २ १०१)
१३ इदोऽम पुसि । (७ २-१११)
१४ अम्वायनद्योह्र स्व । (७ ३ १०७)
१५ आङो नाऽस्त्रियाम । (७ ३-१२०)

इत्यादि, इसस विषय विभाग स्पष्ट होता है। षष्ठ और सप्तम अध्याय क सूत्रो म पद रचना (morphology) की चर्चा की गयी है। प्रथम और द्वितीय अध्याय के उपर्युक्त सूत्रो म वाक्य रचना (Syntax) की चचा की गई है। अत यह कहना गलत है कि पाणिनि न वाक्य रचना की उपेक्षा की। उन्होन वाक्य' शब्द का भी प्रयाग किया है।

(१) वाक्या दे रामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोप कुत्सन भर्त्सनेषु। (८ १ ८)

(२) वाक्यस्य टे प्लुत उदात्त । (८ २ ८२)

वाक्य के सबध म नियम बनाकर दिए है।

८ ३ सस्कृत म 'धातु आ के रूप तिङ प्रत्यया से निष्पन्न हात है। य 'तिङ प्रत्यय लकारो के आदेश होते है। काल तथा वृत्ति (Tense, Mood, Aspect) के विविध अर्थों म लकार प्रयुक्त हात है। लकार दस हैं—लट लिट, लुट् लट लेट लोट लङ लिङ लुङ और लङ। इस सूची को देखन स मालूम होता है कि य सब पारिभाषिक शब्द एक ही वण लकार' म अकार आदि स्वरो का तथा 'ट' अथवा ङ अनुबध को जोडकर बनाये गये हैं। कुछ लकार टित हैं, इनकी सख्या छह है। कुछ अन्य लकार ङित है इनकी सख्या चार है। अत कुल लकारा की सख्या दस है। इनम 'लेट' सिर्फ वद म ही उपलब्ध है। बाकी लकारा के रूप लोक तथा वद दाना म प्रयुक्त हैं। पाणिनि न ततीय अध्याय म इन लकारो के विविध अर्थों की व्याख्या की है। यहा भी दा प्रकरण विभक्त पाये जाते है। कुछ सूत्र लकार क स्थान पर आन वाले प्रत्यया क विकार आदि रूपस्वनिमीय परिवतनो का विधान करते है। एस कुछ सूत्र तृतीय अध्याय म हैं, कुछ षष्ठ

अध्याय मे, कुछ सप्तम अध्याय म तथा कुछ अष्टम अध्याय मे। पाणिनि ने अपनी सुविधा के अनुसार इन सूत्रो को विभिन्न प्रकरणो म रखा है। कुछ अग काय है, अत अगाधिकार मे उनका स्थान दिया। कुछ नियम षत्व तथा णत्व म सबधित हैं। उन्हे अष्टमाध्याय म स्थान मिला। इडागम' सस्कृत की एक जटिल समस्या है। उसका विवचन सप्तम अध्याय के द्वितीय पाद म किया गया है, कुछ उदाहरण यहा प्रस्तुत है।

(१) तृतीय अध्याय के सूत्र—

१ स्यतासीलृलुटो। (३ १ ३३)
२ कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि। (३ १ ४०)
इटितो वा। (३-१-४७)
४ टित आत्मनेपदाना टेरे। (३-४ ७९)
५ लिङस्सिचयोरेशिरेषु। (३ ४ ८१)

(२) षष्ठ अध्याय के सूत्र—

१ सप्रसारणाच्च। (६-१-१०८)
२ सुट कात पूर्व। (६-१ १३५)
३ सहिवहोरोदवर्णस्य। (६ ३ ११२)
४ अज्झनगमा सनि। (६ ४-१६)
५ वशसञ्जस्वञ्जा शपि। (६ ४ २५)

(३) सप्तम अध्याय के सूत्र—

१ लोपस्त आत्मनेपदेषु। (७ १ ४१)
२ शे मुचादीनाम। (७-१ ५९)
३ नाभ्यस्ताच्छतु। (७ १-७८)
४ सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु। (७ २ १)
५ एकाच उपदेशेऽनुदात्तात। (७ २ १०)
६ ऋतो भारद्वाजस्य। (७ २ ६३)

(४) अष्टम अध्याय के सूत्र—

१ कृपो रो ल। (८ २ १८)
२ इट ईटि। (८ २ २८)
३ सयोगादेरातो धातोर्यण्वत। (८ २-४३)
४ शासिवसिघसीना च। (८ ३ ६०)
५ सिवादीना वाऽड्व्यवायेऽपि। (८-३ ७१)
६ निनदीभ्या स्नाते कौशले। (८ ३ ८९)
७ हिनुमीना। (८ ४ १५)
८ आनि लोट। (८ ४-१६) इत्यादि।

८ ३ १ तिङ् प्रत्ययों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग के प्रत्ययों को 'परस्मैपद' कहते हैं। दूसरे वर्ग के प्रत्यय 'आत्मनेपद' हैं। पाणिनीय धातुपाठ में लगभग दो हजार धातु संकलित हैं। इनमें से कुछ परस्मैपदी है। उनके साथ आत्मनेपद प्रत्ययों का प्रयोग नही होता। कुछ धातु आत्मनेपदी हैं। वे कभी परस्मैपदी नहीं होते। कुछ धातु उभयपदी हैं। कभी ये आत्मनेपदान्त होते है तो कभी परस्मैपदान्त। स्वरितञित कर्त्रभिप्राय क्रियाफले।" 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्।' 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्। किंतु कुछ धातु स्वयं परस्मैपदी होते हुए भी किसी उपसर्ग के योग से या अर्थविशेष के कारण आत्मनेपदी होते हैं। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

१ नेर्विशः। (१ ३ १७)

२ विपराभ्यां जेः। (१-३-१९)

३ समवप्रविभ्यः स्थः। (१-३-२२)

इत्यादि। इसी प्रकार कुछ आत्मनेपदी धातु उपसर्ग के योग में परस्मैपदी बन जाते हैं। इसके भी कुछ उदाहरण हैं—

१ व्याङ्परिभ्यो रमः। (१-३ ८३)

२ निगरणचलनार्थेभ्य च। (१ ३ ८७)

३ लुटि च क्लृपः। (१-३ ९३)

८ ३ २ पदव्यवस्था का प्रथम सूत्र है—"अनुदात्तङित आत्मनेपदम्।" (१ ३ १२)। इस सूत्र से लेकर पादान्त (१-३ ९३) तक ८२ (बयासी) सूत्रों में पाणिनि ने परस्मैपद तथा आत्मनेपद की व्यवस्था बतायी है। यह केवल पद रचना के स्तर की बात नही है। यह तो पदबंध (Phrase) के स्तर की बात है। वाक्य स्तर की संरचना पर भी पद विधान के उदाहरण मिलते हैं। यहां दो सूत्रों पर विचार किया जाएगा। ये सूत्र निम्न प्रकार के हैं—

१ समस्तृतीयायुक्तात्। (१ ३-५४)

२ दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे। (१ ३ ५५)

पहले सूत्र का अर्थ है कि सम् उपसर्ग से युक्त 'चर' धातु यदि तृतीया-युक्त हो तो आत्मनेपद लेता है। तृतीया यहां विभक्ति ही विवक्षित है। 'चर' धातु है। उपसर्ग के साथ उसका संबंध हो सकता है। 'संचार' आदि इस उपसर्ग योग के उदाहरण है। किंतु तृतीया तो सुब् विभक्ति है। धातु का तृतीया से योग कैसे संभव है? वृत्तिकार बताते हैं कि यहां अर्थद्वारक संबंध विवक्षित है। तृतीया विभक्ति के अर्थ के साथ 'चरति' क्रिया का संबंध है। 'तृतीयायुक्तात्' इसी अर्थद्वारक संबंध का संकेत करता है। आत्मनेपद का उदाहरण है— अश्वेन संचरते। स्पष्ट है कि यहाँ आत्मनेपद का विधान वाक्य स्तर की संरचना पर आधारित है। काशिका में इस सूत्र की व्याख्या यों की गयी है—

"सपूर्वात चरते ततीयायुक्तात आत्मनेपद भवति। तृतीयेति ततीया विभक्तिर्गृह्यते। तया चरतेरथद्वारको योग । अश्वेन सचरते। ततीयायुक्तादिति किम् ? "उभौ लोकौ सचरसि इम चामु च देवल।" यद्यप्यत्र तदययोग सभवति, तृतीया तु व श्रूयते इति प्रत्युदाहरण भवति।'

(काशिका, पूर्वार्ध पृ० ५७)

८ ३ ३ इसके पूवसूत्र म भी 'चर धातु क आत्मनेपद का विधान किया गया है। 'उद चर सकमकात। (१-३ ५३)। यदि 'चर' धातु 'उत उपमग के साथ युक्त हो और सकमक रह ता आत्मनेपद प्रत्यय लेगा। गुरुवचनमुच्चरते। यहा उच्चरत का अथ है उल्लघन करना। उपसग के कारण इस अथविशेष म धातु का प्रयोग होता है। उल्लघन क अथ म सकमकता भी स्पष्ट है। अत यहा आत्मनेपद प्रवृत्त है। काशिका' म लिखा है—

"शेषात कतरि परस्मपदे प्राप्ते उत्पूर्वात चरते सकमकक्रियावचनात आत्मनेपद भवति। गेहमुच्चरते। कुटुम्बमुच्चरते। गुरुवचनमुच्चरते। उत्क्रम्य गच्छतीत्यथ। सकमकादिति किम ? बाष्पमुच्चरति।"

(काशिका १-३ ५३, प० ५७)

८ ३ ४ दूसरा सूत्र है दाण' धातु क सबध मे। दाण्—दान। यह परस्मपदी है। 'सम्' उपसग से युक्त दाण् धातु यदि तृतीया-युक्त है तो वह आत्मनेपदी बनता है। सूत्रकार न एक और शत लगायी है— सा चेत चतुर्थ्यर्थे।' कवल ततीया का योग पर्याप्त नही है। तृतीया का प्रयोग चतुर्थी के अथ मे किया जाय तो उस विशेष स्थिति म आत्मनपद विहित है। चतुर्थी का अथ है सप्रदान। इस अथ मे ततीया का विधान नही हुआ, तो प्रयोग किस आधार पर होगा ? पाणिनि ने सूत्र मे यह सकत तो दिया ही है कि चतुर्थी के अथ म ततीया का प्रयोग कभी कभी होता है। वार्तिककार न बताया है कि अशिष्ट (असभ्य) व्यवहार क सदभ म सप्रदान के अथ म तृतीया होती है। सिफ एसी स्थिति म दाण का आत्मनपद होता है। उदाहरण है—दास्या सयच्छते। कामुक दासी को धन देता है। यहा दास्या म ततीया है। अत 'सयच्छते' मे आत्मनपद का प्रयोग हुआ। पाणिना सम्प्रयच्छति। हाथ स (धन) देता है। यहाँ 'पाणिना तृतीया म है। किन्तु ततीया का अथ यहाँ करण है, सप्रदान नही। अत इस वाक्य मे परस्मपद ही प्रयुक्त है। काशिका' क शब्द हैं—

"दाण—दाने" परस्मपदी। तत सपूर्वात तृतीयायुक्तात आत्मनेपद भवति, सा चेत ततीया चतुर्थ्यर्थे भवति। कथ पुन ततीया चतुर्थ्यर्थे स्यात ? वक्तव्यमेव एतत। "अशिष्टव्यवहारे ततीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम।' दास्या सम्प्रयच्छते। वषल्या सम्प्रयच्छते। कामुक सन दास्य ददातीत्यथ । चतुर्थ्यर्थे इति किम ? पाणिना सम्प्रयच्छति।" (काशिका, पूर्वार्ध, १-३ ५५ पृ० ५७)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाणिनीय व्याकरण विभक्त्यर्थ लकारार्थ, पद-व्यवस्था आदि शोपकों के अन्तर्गत वाक्यरचना (Syntax) का भी निरूपण करता है। तो उसे 'शब्दशास्त्र" अथवा "शब्दानुशासन' क्यों कहते हैं? इस प्रसंग में "शब्द' भाषा का ही पर्याय है। ध्वनि, नाम, आख्यात प्रत्यय, पद, पदबंध, उपवाक्य, वाक्य आदि भाषा के सभी अंग 'शब्द' की सीमा में समाहित होते हैं। शब्द का अर्थ इतना व्यापक है। अतः भाषा की व्याख्या विवेचना करने वाले शास्त्र को 'शब्दशास्त्र' तथा इस शास्त्र के विद्वान् को 'शाब्दिक' कहना उचित ही है।

६ इस शब्द यानी भाषा का स्वरूप क्या है? पतंजलि ने महाभाष्य के आरंभ में ही यह प्रश्न उठाया— अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ?' गौ, हस्ती आदि 'नाम' हैं। गच्छति, शेते आदि आख्यात हैं। नाम और आख्यात का समुदाय वाक्य बनता है। ऐसे वाक्यों से मानव का सारा भाषा व्यवहार चलता है। तो यहाँ किसे हम 'शब्द' या 'भाषा' कहते हैं? आपाततः विचार करने पर यह प्रश्न निरर्थक जान पड़ता है। साधारण व्यक्ति भी जानता है कि ध्वनियों का समुदाय ही भाषा है। तो व्याकरण का अध्येता क्या इतना भी नहीं जानता? 'कः शब्दः ?' पूछने वाले का क्या-क्या अभिप्राय हो सकता है? कैयट ने प्रश्नकर्त्ता के तात्पर्य का वर्णन इस प्रकार किया— लोक-व्यवहार में शब्द और अर्थ का अभेद प्रतीत होता है।' गाय हमारे सामने है, कोई गाय को देखकर उस प्राणी की सत्ता को तो जानता है। किंतु उसे 'वाचक' शब्द का ज्ञान नहीं है। तो वह पूछता है—'यह क्या है?' 'अयं कः?' इसके उत्तर में हम कहते हैं 'अयं गौः।" (अयम्' पुंलिंग सर्वनाम है। अतः इस संदर्भ में 'गौः' का अर्थ बैल होगा। गाय की ही विवक्षा करें तो प्रश्न में 'इयम्' को रखें। यह उसी सर्वनाम का स्त्रीलिंग रूप है। तब उत्तर का रूप होगा—"इयं गौः।' यह गाय है।) यहाँ 'अयम्' (यह) पुरोवर्ती प्राणी का निर्देश करता है। 'गौः' वाचक शब्द है। 'अयं' और 'गौः' दोनों प्रथमा एकवचन में हैं और इन दोनों शब्दों में लिंग की अन्विति भी है। इसे समानाधिकरण प्रयोग कहते हैं। अतः 'अयं' और 'गौः' का अभेद प्रतीत होता है। यहाँ 'अयं' से द्रव्य का बोध होता है और 'गौः' से शब्द का बोध होता है। अतः इस सामानाधिकरण्य से द्रव्य और शब्द का अभेद सिद्ध होता है। इसी प्रकार गाय (बैल) के रंग (रूप) के विषय में जिज्ञासा करने पर उत्तर मिलता है— अयं शुक्लः।" पूर्वोक्त रीति से यहाँ भी सामानाधिकरण्य पाया जाता है। इससे रूप तथा शब्द का अभेद प्रतीत होता है। वैसे भी, जब हम गाय को देखते हैं तब द्रव्य, गुण, क्रिया आदि का हमें बोध होता है। तो यह शंका स्वाभाविक है कि इन अर्थों में से किसे 'शब्द' मानना चाहिए? कैयट ने लिखा—

"अयं गौः, अयं शुक्ल इति शब्दार्थयोरभेदेन लोके व्यवहारदर्शनात् शब्द-

स्वरूपनिर्धारणाय पृच्छति—अयमिति। गौरिति विज्ञाने प्रतिभासमानेषुवस्तुषु क शब्द इत्यर्थ ।"
(भाष्यप्रदीप, पृ० ८)

६ १ 'उद्द्योत' टीका के लेखक नागेश भट्ट ने कैयट का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा कि गाय को देखकर कोई जिज्ञासु उसके वाचक शब्द के विषय में प्रश्न करता है। तब उत्तर देने वाला वाच्य और वाचक का अभेद मानकर कहता है—'अयं गौ ।" यह अभेद स्वत सिद्ध है। इसे 'तादात्म्य" भी कहते हैं। यही तादात्म्य शक्ति' (अभिधा) कहलाता है। नागेश ने लिखा है—

"पुरोवर्तिव्यक्ति पश्यतो वाचकजिज्ञासया कोऽयमिति प्रश्ने, अयं गौ, अयं वर्ण शुक्ल इत्युत्तरस्थले सनिहितमुद्दिश्यतादात्म्येन शब्दविधेयता प्रतीतेरिति तात्पर्यम। शब्दार्थयो तादात्म्यमेव शक्ति । स्पष्ट चेद पातञ्जलभाष्ये इति मञ्जूषायामस्माभि र्ह्यादिसयततया व्युत्पादितम ।"
(उद्द्योत, पृ० ८)

नागेश ने शब्दार्थ के अभेद व्यवहार का एक उदाहरण और दिखाया—रामेति द्व्यक्षर नाम मान भङ्ग पिनाकिन ।' इस वाक्य में राम' एक विभक्ति रहित प्रातिपदिक है। अतएव 'रामेति में गुण संधि से एकार हुआ है। अन्यथा राम + इति में 'लोप शाकल्यस्य' से यकार लोप करते तो उस लोप के असिद्धत्व के कारण संधि नहीं होती। तब रूप यह बनता—'राम इति।' दो अक्षरों से युक्त यह रामनाम पिनाकधारी शिव के लिए मानभग है। मानभग का कारण है। कार्य और कारण में अभेद का उपचार है—"आयु घृतम' इत्यादिवत। यहां नाम और तन्वाच्य शिवधनुभगकारी श्रीराम में अभेद का व्यवहार स्पष्ट है।

६ २ शब्दकौस्तुभ में भट्टोजिदीक्षित ने भी भाष्योक्त प्रश्न की उपपत्ति इसी ढंग से की है। दीक्षितजी का कहना है कि द्रव्य गुण, जाति और क्रिया ये चारों 'अर्थ की कोटि में आते हैं। शब्द से इन अर्थों का बोध होता है। साथ ही शब्दजन्य बोध में शब्द स्वयं भी विषय बन जाता है। शब्द बोधक है किंतु वही 'बोध्य' कोटि में भी प्रविष्ट हो जाता है। शब्दजन्य बोध में शब्द का भी अनुप्रवेश अनुभव से प्रमाणित है। शाब्दबोध की बात को छोड़ दें। किंतु प्रत्यक्ष से किसी द्रव्य की उपलब्धि (ज्ञान) होने पर वहां भी वाचक शब्द का स्मरण होता है। जिस प्रकार वाचक शब्द की उपस्थिति (श्रवण) के कारण वाच्य अर्थ का स्मरण होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ (वस्तु) के प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण वाचक शब्द का स्मरण भी अनुभवसिद्ध है। एक सर्वज्ञानभ्रपरसर्वप्रिस्मारकम। अत अर्थ से शब्द का स्मरण होना सगत ही है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में तादात्म्य स्थापित होता है। अर्थवत्ति गुण क्रिया और जाति से भी तादात्म्य इसी आधार पर संभव है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने शंका की है— क शब्द ? दीक्षित-

जो न अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए भर्तृहरि के वाक्य-पदीय से कुछ कारिकाओं (पद्य) के उद्धरण भी प्रस्तुत किए हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वस्तुज्ञान में वाच्य के साथ वाचक शब्द का भी प्रतिभास रहता है, शब्द स्मृति के बिना केवल बोध नहीं होता, शब्द की दो शक्तियाँ होती हैं। वे ग्राहक (ज्ञान के जनक) भी हैं तथा ग्राह्य (ज्ञान के विषय) भी। जिस प्रकार दीप अन्य वस्तुओं को दिखाता है और साथ ही स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है, दीप को देखने के लिए दूसरे दीप की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार शब्द अर्थ को प्रकाशित करके स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है। दीक्षितजी ने लिखा है—

"अस्ति हि तेषां गौरित्यनेन वाच्यवाचकभावादि सबन्धः। अत एव शाब्द बोधे गवि समवायेन गोत्वमिव शक्त्याख्य सम्बन्धेन शब्दो विशेषणतया भासते। चाक्षुषबोधेऽपि व्यक्त्या स्मारित शब्दो विशेषणमित्यभ्युपगम। आह च—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके
यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं
सर्वं शब्देन भासते॥
ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च
द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानां
एते पृथगवस्थिते॥

इति। "पतः संज्ञा स्मरणं तत्र,
न संज्ञान्तर हेतुकम्।
पिण्ड एव हि दृष्टः सन्
संज्ञा स्मारयितुं क्षमः॥"

इति च युक्त चतत। गृहीत शक्तिक प्रति शब्देन अर्थस्येव अर्थेन शब्दस्यापि स्मरणे बाधकाभावात। अत एव गोत्वस्येव गोशब्दस्यापि व्यक्ति विशेषणतया विषयात संसर्गोऽपि तादात्म्यमेवास्तु। एवं गोशब्दा दिभिरपि। तदभिन्नाभिन्नस्य तदभेदादित्या शयेन "अय गौरित्यत्र कः शब्द" इति प्रघट्टक द्रव्यगुण कर्म सामान्य सह दा दस्या भेदो भाष्यकृद्भिरानङ्घ य निराकृत।"

(शब्दकौस्तुभ पृ० ८ १०)

६ ३ भाष्यकार ने पूर्वपक्ष की ओर से शंका की कि 'गौः' शब्द में जिस प्राणी (व्यक्ति) का बोध होता है, क्या वही 'शब्द' है? गाय के अंग परिलक्षित होते हैं—सास्ना, लांगूल, खुर और विषाण (सींग)। क्या इन अंगों से युक्त प्राणी को 'शब्द' कहते हैं? उत्तर है—"नहीं" यह तो एक द्रव्य है। यह शब्द से भिन्न पदार्थ है। गाय आदि द्रव्य शब्द से प्रतिपाद्य होते हैं। अतः अर्थ और शब्द का

पथक मानना चाहिए। भाष्य की पक्ति निम्नलिखित है—

"किं यत्तत सास्नालागूलककुदखुर विषाणि अथ रूप, स शब्द ? नेत्याह। द्रव्य नाम तत।"

(भाष्य, पृ० ८ ६)

कयट ने शब्द और द्रव्य के भेद का एक प्रमाण यह बतलाया कि शब्द तो श्रोत्रग्राह्य है और द्रव्य चक्षुग्राह्य है। शब्द सुना जाता है। वह श्रावण प्रत्यक्ष का विषय है। द्रव्य तो देखा जाता है। वह चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है। इस प्रकार य दोना भिन्नेंद्रिय ग्राह्य हैं। अत इनम भेद स्वरस सिद्ध है। कैयट न आग कहा कि हम तो इस शास्त्र म शब्दा का निरूपण करना चाहते हैं, द्रव्या का नही। यह शब्दानुशासन है, द्रव्यानुशासन नही है। उनके वाक्य हैं—

"भिन्नेंद्रियग्राह्यत्वात न द्रव्य शब्द इति प्रतीतम, अपितु द्रव्यमिति। यदि च द्रव्यानुशासन विवक्षितम भविष्यत 'अथ द्रव्यानुशासन' मित्येव अवक्ष्यत।"

(भाष्य प्रदीप, पृ० ६)

शब्द ही श्रवणेंद्रिय से गहीत होता है। रूप रस, आदि श्रवण के विषय नही हो सकत। अत चक्षुरादि अन्य इद्रिया से गह्यमाण विविध अथ शब्द से भिन्न सिद्ध होत हैं। कयट ने भेद के उपपादन के लिए यह तक दिया तो फिर अभेद व्यवहार कस होता है ? "अय गौ" की क्या उपपत्ति है ? कयट का अभिप्राय यही मानना चाहिए कि अभेद का व्यवहार औपचारिक है। वाच्य और वाचक म वस्तुत भेद होत पर भी दोना के घनिष्ठ सबध के कारण लक्षणा क आधार पर अभेद का व्यवहार हो सकता है। नागेश न स्पष्ट किया था कि 'अय क' म वाचक की जिज्ञासा निहित है। द्रष्टा पुरोवर्ती व्यक्ति को—गाय को—दख ही रहा है। प्रत्यक्ष स द्रव्य का ज्ञान उस हो रहा है। उसे वाचक शब्द का ज्ञान नही है। इसी लिए पूछता है—'अय क ?' प्रश्न का अथ है—'इस द्रव्य का अभिधान (नाम) क्या है ?" इस या स्पष्ट कर सकत है— अय केन शब्देन अभिधीयते ?" तो इस प्रश्न म—वाचक—जिज्ञासा म—ही शब्द और द्रव्य का भेद अन्तर्निहित है। वाच्य का तो प्रश्नकर्त्ता जानता ही है। नही तो 'अयम' का प्रयोग कस करता ? किंतु वह वाचक को नहीं जानता। इस प्रश्न का उत्तर भी शब्दपरक है। अय गौ' का अथ है 'अय गोशब्दवाच्य।' इसका नाम गाय है। यह वाक्य शक्ति-बोधक है। नयायिका न आप्तवाक्य को शक्तिग्राहक प्रमाणा म एक माना है। तो अय गौ ऐसा एक आप्तवाक्य है जिसम 'गो शब्द की शक्ति का ग्रहण बोध होता है। 'अय (पुरोवर्ती प्राणिविशेष) गोशब्दवाच्य' वहँ तो वाच्य अथ और वाचक शब्द का भेद तथा उन दोना के बीच का वाच्य वाचक—भावात्मक सबध स्पष्ट प्रतीत होते हैं। 'अय गौ' वह तो लाक्षणिक या औपचारिक अभेद पहल प्रतीत होता है किंतु पयवमान म वह भी वाच्यवाचक भाव म परिणत होकर भद

की भूमिका को स्पष्ट कर देता है। 'भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात" आदि कहकर कयट ने इसीका संकेत दिया।

६.४ भाष्यकार ने फिर क्रिया, गुण और जाति के विषय में शंका की कि क्या इसे 'शब्द' मानना उचित है? 'गौ' व्यक्ति तो द्रव्य है। द्रव्य में क्रिया गुण और जाति की स्थिति होती है। इनका संबंध समवाय है—'नित्यसम्बन्ध समवाय।" गुणगुणिनो क्रिया क्रियावतो जातिजातिमतो च संबंध समवाय। 'गौ' पदार्थ के ज्ञान में क्रियादि का भी बोध अन्तर्भूत पाया जाता है। अतः शंका का अवसर है—"गोशब्दार्थे च एषां संभवात शब्दत्वमाशङ्कयते।' (प्रदीप पृ० ६) किंतु समाधान पूर्वोक्त ही है—"भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात।' क्रियादि का ग्रहण श्रवण से नहीं होता। अतः ये शब्द नहीं हैं। भाष्यकार ने शिष्यबुद्धिवैशद्य के लिए विस्तार से शङ्का उपस्थित करके निराकरण किया। भाष्य के शब्द इस प्रकार हैं—

(१) "यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति, स शब्द ? नेत्याह। क्रिया नाम सा।

(२) यत्तर्हि तच्छुक्लो नील कपिल कपोत इति, स शब्द ? नेत्याह। गुणो नाम स।

(३) यत्तर्हि तद् भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं, स शब्द ? नेत्याह। आकृतिर्नाम सा।' (पृ० ६-१२)

६.५ 'जाति' का ही दूसरा नाम है 'आकृति'। क्रिया और गुण अनित्य हैं। उनकी उत्पत्ति तथा विनाश प्रमाण सिद्ध है। किंतु जाति नित्य है। व्यक्ति का नाश होने पर भी जाति का नाश नहीं होता। 'छिन्नेषु अच्छिन्नम्'। इससे नित्यता का बोध होता है। व्यक्ति तो असंख्यात हैं। किंतु उन सबमें अवस्थित जाति एक ही है। 'भिन्नेषु अभिन्नम्' कहने से इस एकत्व की प्रतीति होती है। नैयायिकों ने 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' कहकर जाति की एकता तथा नित्यता को स्वीकार किया है। इस प्रकार भाष्यकार ने इस प्रघट्टक में सिद्ध कर दिया कि द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति—ये चारों पदार्थ शब्द नहीं हैं। शब्द इनसे भिन्न है। तो यह जिज्ञासा और प्रबल होती है—'ऐसी स्थिति में आप किसे शब्द' मानते हैं?' शिष्य ने खीजकर पूछा—'अथ कस्तर्हि शब्द?"

६.६ इस प्रश्न का उत्तर भाष्य में दो प्रकार से दिया गया है। पहला उत्तर है—

येन उच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्द।" (भाष्य पृ० १२) दूसरा उत्तर है—'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते। (वही, पृ० १४) इस द्वितीय समाधान में ध्वनि को शब्द कहा गया। ध्वनि को शब्द कहने का क्या कोई प्रमाण है? भाष्यकार ने प्रसिद्ध प्रयोग

दिखाकर कहा कि हा, ध्वनि को ही शब्द कहने की प्रथा है। "शब्द कुरु"। 'मा शब्द कार्षी'। 'शब्दकारी अय माणवक'।" इस वाक्यो मे 'ध्वनि' के अथ म 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया गया है। ध्वनि कुवन एवमुच्यते। तस्माद ध्वनि शब्द।" (पृ० १४) इन दोनो उत्तरो के तात्पय पर विचार करना अपेक्षित ह।

६७ पहला उत्तर है— येन उच्चारितेन सप्रत्ययो भवति स शब्द। 'स प्रत्यय' का अथ है ज्ञान। यह शब्द 'इण्' धातु का भाववाचक कृदन्त रूप है। 'सम' और 'प्रति' दो उपसग है। 'इण्' धातु गत्यथक है। प्राय गत्यथक धातु ज्ञानाथक भी होत ह। 'प्रति' उपसग के योग म 'इण्' ज्ञानाथक बन जाता है। 'प्रत्येति।' जानातीत्यथ। प्रत्यय, प्रतीत, प्रतीति आदि कई शब्दो म यह अथ उपलब्ध है। 'सम' उपसग का अथ है सम्यक। सही ढग से या अच्छी तरह जानना सप्रत्यय है। उच्चारित होन वाले जिससे सास्नादि विशिष्ट अथ का सप्रत्यय होता है उस शब्द कहत हैं। अथज्ञान का साधन शब्द है। शब्द के उच्चारण से अथज्ञान उत्पन्न होता है। भाष्यकार का यह अभिप्राय प्रतीत होता है। गोव्यक्ति, उसके गुण उसकी क्रिया और जाति—ये चार प्रकार के अथ हैं। ये वाच्य है शब्दजन्य ज्ञान के विषय है। ये शब्द नही है। इन अर्थों के ज्ञान का जो साधन है वही शब्द है। शब्द वाचक है। इस उत्तर का इतना तात्पय तो स्पष्ट है।

६८ किंतु यहा एक महत्त्वपूण प्रश्न सामने आता है कि अथज्ञान का साधन क्या है? क्या ध्वनि से अथ का बोध होता है? अथवा ध्वनि समुदाय से अथ का बोध होता है? क्या प्रत्येक ध्वनि का कुछ अथ बताया जा सकता है? 'नारायण' 'जातरूप' आदि कई शब्द अनेक ध्वनि समाहारात्मक है। इन शब्दो म किसी एक ध्वनि को हटा दें तो अथबोध म बाधा उपस्थित होगी। 'नारायण' एक देवता विशेष (विष्णु) का वाचक है। जातरूप स्वण का पयाय है। नारायण शब्द से आठ ध्वनिया हैं, चार व्यजन और चार स्वर। ये ध्वनिया एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर ही प्रकृत शब्द का निष्पादन करती है। क्रम का विपर्यास करें तो शब्द का विवक्षित स्वरूप नही बन पायेगा। यानारण, राणायन नायारण आदि रूप विवक्षित अथ के बोधक नही हो सकते। अत मानना होगा कि किसी विशिष्ट क्रम (order) या आनुपूर्वी म सनिविष्ट ध्वनिया का समूह शब्द होता है। तब यह शका पदा होती है कि नारायण की आठ ध्वनियो का अथ क्या है? यह शब्द ध्वनिसमुदाय तो विष्णु का वाचक है। किंतु शब्द के प्रथम वण नकार का अथ क्या है? आकार का क्या अथ है? यदि प्रत्येक वण का अथ बताना सभव नही और हम यह मान लते हैं कि वण तो निरथक हैं बल्कि वणसमुदाय—शब्द—साथक है, तो दूसरी शका यह होती है कि निरथक वर्णों का समुदाय साथक कैसे बन सकता है? शब्द को साथक और वण को निरथक कहने का आधार क्या है? निरथक वर्णों का उच्चारण अथबोध

की प्रक्रिया में कैसे सहायक होता है?

९.९ दूसरी बात यह है कि वर्णों का ही उच्चारण किया जाता है। पद या वाक्य का उच्चारण वर्णोच्चारण के द्वारा ही माना जा सकता है। मनुष्य का वाग्यंत्र ऐसा बना हुआ है कि उससे एक साथ—युगपत—अनेक वर्णों का उच्चारण नहीं हो सकता। किसी पद का उच्चारण करना हो तो हम उस पद के घटक वर्णों का क्रम से एक एक करके ही उच्चारण कर सकते हैं। नारायण का नाम लेना चाहें तो पहले नकार का उच्चारण करते हैं। उसके बाद द्वितीय वर्ण आकार का उच्चारण करते हैं। इसी तरह क्रम से अन्य वर्णों का भी उच्चारण करते हैं। जब हम प्रथम वर्ण का उच्चारण कर रहे हैं तब द्वितीय तृतीय आदि वर्ण अस्तित्व में नहीं हैं। उच्चारण से ही वर्णों की उत्पत्ति होती है। अतः उच्चारण में पूर्व वर्णों की सत्ता ही नहीं हो सकती। प्रथम वर्ण का उच्चारण करते समय द्वितीयादि वर्ण नहीं हैं। जब हम द्वितीय वर्ण का उच्चारण करते हैं तब प्रथम वर्ण का नाश हो जाता है। वर्ण अनित्य हैं। उच्चारण के बाद तुरंत—उत्तर क्षण में ही—वर्णों का नाश होना प्रत्यक्ष है। प्रथम वर्ण का नाश हो जाने पर द्वितीय या तृतीय वर्ण के साथ उसका सहावस्थान (co existence) असंभव है। जब हम नारायण शब्द के अंतिम वर्ण अ कार का उच्चारण करते हैं, तब पूर्ववर्ती वर्ण नष्ट हो चुके हैं। अतः वर्णों का समुदाय बन ही नहीं पाता। वर्णसमुदाय ही तो शब्द है। यदि समुदाय सिद्ध (निष्पन्न) ही नहीं होता तो उससे अर्थ बोध की आशा करना तो व्यर्थ ही है। तो 'येनोच्चारितेन सम्प्रत्ययो भवति'—इस उक्ति का क्या औचित्य है? शब्द से अर्थ का ज्ञान फिर कैसे होता है? अर्थज्ञान नहीं हो तो भाषा की उपयोगिता ही समाप्त हो जाती है।

९.१० व्याकरण शास्त्र में वर्ण सार्थक बताये गये हैं। कई धातु एकवर्णात्मक हैं। इण गतौ। एति। यहाँ धातु का रूप ए है और वह सार्थक है। गति उसका अर्थ है। इसीका द्विवचन है "इतः। संस्कृत का एक वाक्य यह हो सकता है— रामकृष्णौ इतः। राम और कृष्ण जाते हैं यहाँ इकार ही गति का वाचक है। इसीका बहुवचन है—'यन्ति'। इणो यण्। यहाँ यकार धातु है और गत्यर्थ का वाचक है। 'इङ्—अध्ययने'। यह धातु आत्मनेपदी है। इसका अर्थ है अध्ययन। इसी प्रकार कई प्रत्यय एकवर्णात्मक हैं। दशरथस्य अपत्यं पुमान् दाशरथि। यहाँ अपत्य के अर्थ में 'इञ् प्रत्यय विहित है—"अत इञ्"। ञकार इत् है। प्रत्यय केवल इकार है। इसका अर्थ है अपत्य। कुछ निपात भी एकवर्णात्मक हैं। आगच्छति। 'आ' उपसर्ग है। 'आ' के कई अर्थ बताये गए हैं—

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्, वाक्यस्मरणयोरङित्॥

(महाभाष्य १.१.१४, पृ० २८४)

'इण्' धातु से पूर्व 'आ' उपसर्ग का प्रयोग करें तो गुणसंधि से एकार हो जाता है। आ + इत = एत। एकवचन में वृद्धि से ऐकार होता है—' आ + एति = ऐति। "एत्येधत्यूठ्सु"। इन पदों में एकार और ऐकार दो रूपों का एक साथ प्रतिनिधित्व करते हैं—उपसर्ग का तथा धातु का। 'राम' शब्द का सप्तमी एकवचन का रूप है—'रामे'। यहाँ 'इ' सुप प्रत्यय है। राम + इ = रामे। इस प्रकार आगम आदेश आदि के उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। 'इदम्' शब्द के कुछ रूपों में प्रकृति के कुछ अंश का लोप हो जाने पर सिर्फ अकार सर्वनाम के रूप में बचता है। अनाप्यकः। हलि लोपः। इस अकार का कहीं दीर्घ होता है कहीं एत्व होता है। सुपि च। बहुवचने झल्येत्। उदाहरण हैं—' आभ्याम् एभिः एषु" इत्यादि। यहाँ आकार या एकार ही सर्वनाम है और उससे सन्निकृष्ट वस्तु का बोध होता है। स्त्रीलिंग में स्त्रीत्वबोधक 'टाप्' (इसमें टकार और पकार इत् है। केवल आ प्रत्यय है।) के साथ सर्वनाम के अकार का सवर्ण दीर्घ हो जाता है। "आभ्याम् आभिः आसाम्, आसु" आदि उदाहरण है। ' सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च।" इस सूत्र से दीर्घ आकार (सर्वनाम + स्त्रीप्रत्यय) के स्थान में ह्रस्व हो जाता है। अस्य अस्या, अस्याम। यहाँ ह्रस्व अकार ही सर्वनाम है। इसके अलावा कई प्रातिपदिक एकवर्णात्मक हैं। अ — यह एकाक्षर शब्द विष्णु का वाचक है। अकारो विष्णुवाचकः। अकारार्थो विष्णुः। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ण भी सार्थक होते हैं। शास्त्रकारों ने धातु प्रातिपदिक आदि को एक वर्णात्मक होने पर भी सार्थक माना है। "वर्णा अर्थवन्तः।"

६.११ इसके विपरीत कुछ विद्वान कहते हैं कि वर्ण निरर्थक हैं। 'कूप' शब्द का अर्थ क्या ककार में ही निहित है? सूप यूप आदि में भी क्या प्रथम वर्ण को ही सार्थक मान सकते हैं? तब 'ऊप' का क्या अर्थ रह जाता है? कूप शब्द में चार वर्ण हैं। हम कूपार्थ को चार खण्डों में विभाजित कर प्रत्येक वर्ण को एक अर्थ का खण्ड दे नहीं सकते। अतः ककार, ऊकार आदि वर्ण स्वयं किसी अर्थ का अभिधान करने में असमर्थ ही ठहरते हैं। यह तो भाषा की प्रकृति है कि कुछ वर्ण सार्थक होते हैं और कुछ निरर्थक। लेकिन प्रत्येक शब्द का प्रत्येक वर्ण समुदायार्थ की निष्पत्ति के लिए अनिवार्य है। 'कूप' शब्द के चार वर्णों में से किसी एक को भी हटा देने पर अवशिष्ट वर्ण कूपार्थ का बोध नहीं करा सकते। अतः प्रत्येक वर्ण अर्थसिद्धि के लिए अपेक्षित है। इस दृष्टि से कोई वर्ण व्यर्थ या बेकार नहीं है। किन्तु उस वर्ण का प्रतिपाद्य अर्थ कुछ नहीं होता। शब्द की अर्थवत्ता संकेत पर आधारित है। संकेत के अभाव में वर्णसमुदाय भी अर्थहीन ही रहता है। ' गच्छति' एक सार्थक पद है। किन्तु ' छच्छति' निरर्थक है। किस वर्ण या वर्ण समुदाय में अर्थ निहित है और किसमें नहीं? इसका निर्णय तो लोकव्यवहार में ही किया जा सकता है। भाष्यकार ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करने में

बाद अन्त में कहा—

"तद यथा समानमीहमानानां च अधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यते, अपरे न, न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्, कश्चिद्वा अनर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुं यत् धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तोऽतोऽन्येऽनर्थका इति। स्वाभाविकमेतत।"

(महाभाष्य प्रत्याहाराह्निक पृ० १४२ ३)

भाष्यकार का यही उत्तर है कि यह अर्थवत्ता तथा निरर्थकता का भेद स्वाभाविक है। किस शब्द में किसका क्या अर्थ है—यह तो लोकव्यवहार में ही निश्चित किया जा सकता है। 'आगच्छति' में आकार उपसर्ग है, सार्थक है। किन्तु 'भास्कर' में वही आकार स्वयं तो निरर्थक है, केवल स्वघटित समुदाय की अर्थवत्ता में सहायक है। 'मा' एक प्रातिपदिक है, यह लक्ष्मी का एक नाम है। 'माधव' विष्णु को कहते हैं। किंतु 'मानस', 'मातुल', 'मामक', 'मारक' आदि में 'मा' एक निरर्थक शब्दखण्ड है। 'ना' 'नृ' शब्द का प्रथमा एकवचन है। इसका अर्थ है आदमी। 'नाना' एक अव्यय है। यहाँ 'ना' शब्दखण्ड निरर्थक है। कमल, कला, कर, कष्ट, कथा, कपोल, कपि आदि शब्दों में ककार का कोई सर्वसामान्य अर्थ बतलाना संभव नहीं। 'स्वाभाविकमेतत्।' भाष्यकार ने दृष्टांत दिया कि कई लोग किसी काम को पूरा करने के लिए समान रूप से प्रयत्न करते हैं। कुछ सफल हो जाते हैं और कुछ नहीं। अध्ययन करने वाले लोगों में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो कुछ कोरे ही रह जाते हैं। यह स्वाभाविक है। इसी प्रकार कुछ वर्ण सार्थक हैं तो कुछ नहीं। यह भेद भी स्वभावसिद्ध है। इसमें हम क्या कर सकते हैं? 'तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्?'

६ १२ तो हम घूम फिरकर पहली स्थिति में ही आ पहुँचे। 'नारायण' आदि शब्द अनेक वर्ण समुदाय हैं। वर्णों का उच्चारण क्रमिक रूप से ही संभव है। इस कारण से वर्णों का सहावस्थान संभव नहीं होता। वर्णों का समुदाय नहीं बनता है तो किससे अर्थ की प्रतीति हो सकती है? यही विचारणीय समस्या है। भाष्य के समय व्याख्याता कैयट ने यहाँ बताया है कि भाष्यकार 'स्फोट' को शब्द मानते हैं। स्फोट नित्य है। उसकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। उच्चारण से ध्वनियों की उत्पत्ति होती है, किंतु स्फोट की सत्ता उच्चारण पर निर्भर नहीं है। स्फोट सदा विद्यमान रहता है। उसीसे अर्थ ज्ञान होता है। ध्वनियों का समुदाय नहीं बनता तो उससे कोई हानि नहीं है। अर्थबोध के लिए 'स्फोट' तो है ही। इसी कारण से इस शब्द का नाम 'स्फोट' रखा गया। 'स्फुटति अर्थ अस्मात् इति स्फोटः।' यही अर्थ का बोध कराता है। अतएव इसे 'स्फोट' कहते हैं। भाष्यकार ने शिष्य की जिज्ञासा के उत्तर में कहा कि अर्थसंप्रत्यय का कारण जो स्फोट है उसी को हम शब्द मानते हैं।

१० 'स्फोट एक प्राचीन सकल्पना (concept) है। वैयाकरण स्फोट वादी हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के एक सूत्र म स्फोटायन' नामक एक आचाय का स्मरण किया है— 'अवड स्फोटायनस्य।' 'तत्त्वबोधिनी' टीका म कहा गया है कि यह आचाय बडे उत्साह म स्फोट का समथन करत थे, अतएव इन्हे स्फोटायन' कहने की प्रथा चल पडी। एक ऋचा म कहा गया कि शब्दरूपी वृषभ क दो सिर हैं— 'द्वे शीर्षे।' भाष्यकार न इस अश की व्याख्या म शब्द के दो रूप बताये हैं—काय और नित्य। "द्वौ शब्दात्मानौ नित्य काय च।" काय शब्द ध्वन्यात्मक हैं। काय का अथ है अनित्य, उत्पत्ति विनाश युक्त। नित्य शब्द है स्फोट। अत भाष्यकार के मन म स्फोट ही अथप्रत्यायक है। कयट ने प्रकृत भाष्यवाक्य की ऐसी व्याख्या की है।

१०१ स्फोट नित्य है। तो ध्वनिया का उच्चारण हो या न हो, कोई कुछ बोले या न बोले, सदा रहने वाले स्फोट से हम अथ का बोध क्यो नही होता? स्फोट स ही अथ की प्रतीति हो रही है तो ध्वनिया का उच्चारण करने की क्या आवश्यकता है? ध्वनि और स्फोट का क्या सबध है? एसी कुछ शकाएँ स्फोट के विषय म उत्पन्न हाती है। कयट ने इन शकाओ का निराकरण करते हुए वैयाकरणों की मान्यता स्पष्ट की है। पहली बात यह है कि स्फोट स्वय विद्यमान होकर भी अथ का बोध तब तक नहीं करा सकता जब तक ध्वनिया से व्यजित होकर वह श्रोता से गहीत न हो। स्फोट की व्यजना के लिए ध्वनियो का उच्चारण अपेक्षित है। स्फोट व्यग्य है, ध्वनि व्यजक है। अत ध्वनियो स अभिव्यक्त होन पर ही स्फोट अथबोध का कारण बनता है। ध्वनियो का उच्चारण न हो तो व्यजक के अभाव म व्यग्य का प्रकाश न होने के कारण अर्थज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। स्फोट की व्यजना के लिए क्रमविशेष म सनिविष्ट वर्णों का उसी क्रम स उच्चारण करना अनिवाय है। कैयट न कहा—

"वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति। वर्णाना प्रत्येक वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येन उत्पत्त्यभावात्। अभिव्यक्ति पक्षेतु क्रमेणवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात्। एकस्मत्युपा रूढानां च वाचकत्वे 'सरो रस' इत्यादावथ प्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात्। तदव्यतिरिक्त स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचक, विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापित।"

(भाष्यप्रदीप, पृ० १२ १३)

१०२ कयट की पहली स्थापना है कि पद या वाक्य ही वाचक हैं, वण नहीं। इसका अथ यह नहीं कि वण कदापि वाचक नही होत। एकवर्णात्मक पद तो वाचक हाते ही हैं। पद के घटक वण स्वतत्र रूप स वाचक नहीं होते। पद वाचक होत हैं। कुछ वैयाकरण पदों का भी वाक्यार्थबोधक तथा स्वतन्त्राथ शून्य

मानते हैं। उनके मत में वाक्य ही वाचक है। पद आदि विभाग वाक्यार्थ को समझने की दृष्टि में ही उपयोगी हैं। भर्तृहरि ने कहा है कि वाक्य में पदों का विभाग करना उचित नहीं है—

"पदे न वर्णा विद्यन्ते
वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं
प्रविवेको न कश्चन।"

इनके मत में वाक्य ही वाचक है।

१०.३ यदि हम किसी पद या वाक्य के प्रत्येक वर्ण को वाचक—सार्थक—मानते हैं तो क्या हानि होगी? कैयट का कहना है कि यदि किसी पद का प्रथम वर्ण पदार्थ का वाचक है तो उसी वर्ण से अर्थ का बोध हो जाने के कारण द्वितीय आदि अन्य वर्णों का उच्चारण अनावश्यक होगा। इसी प्रकार वाक्य के प्रथम वर्ण से ही पूरे वाक्यार्थ का ज्ञान हो सकता है तो उसके सिवाय अन्य समस्त वर्णों का उच्चारण व्यर्थ होगा। प्रश्न इतना ही है कि प्रथम वर्ण से अर्थ का ज्ञान होता है या नहीं? यदि होता है तो वर्णान्तर की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। अकेला प्रथम वर्ण ही अर्थ प्रतिपादन के लिए पर्याप्त माना जाय। यदि नहीं होता और अर्थज्ञान के लिए अन्य वर्णों का समाहार अपेक्षित है, तो प्रथम वर्ण का वाचकत्व स्वयं असिद्ध हो जाता है। द्वितीयादि वर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात—यह एक ऐसा हेतु है जो वर्ण के वाचकत्व का निषेध करता है। जो धात्वादि एकवर्णात्मक हैं उनमें एक ही वर्ण में अर्थ का बोध अनुभवसिद्ध है। वहाँ वर्णान्तर की अपेक्षा नहीं रहती। अतः विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है कि वर्ण स्वतन्त्र रूप से वाचक नहीं हैं।

१०.४ वर्ण वाचक नहीं हैं तो हम कहेंगे कि वर्ण समुदाय—पद या वाक्य—वाचक है। पद या वाक्य वर्णों का ही तो समूह है। यह भी स्वाभाविक है कि प्रत्येक वर्ण तो निरर्थक है, किंतु उन निरर्थक वर्णों का एक समूह सार्थक है। इस विषय में वार्तिककार ने आक्षेप किया है—'संघातार्थवत्त्वाच्च।' उनका तर्क था कि वर्णसंघातरूप पद और वाक्य अर्थवाचक हैं तो संघात के घटक वर्णों का भी अर्थवत्त्व इसीसे स्वीकार्य है। यदि वर्ण सार्थक हैं तो उनके संघात भी सार्थक हो सकते हैं। वर्ण निरर्थक हैं तो उनके संघात भी निरर्थक होंगे। भाष्य में वार्तिक की व्याख्या की गयी है—

"संघातार्थवत्त्वात् च मन्यामहे 'अर्थवन्तो वर्णा' इति। येषां संघाता अर्थवन्त, अवयवा अपि तेषामर्थवन्त। येषां पुनरवयवा अनर्थका, समुदाया अपि तेषामनर्थका। तद् यथा—एक चक्षुष्मान् दर्शने समर्थ, तत्समुदाय च शतमपि समर्थम्। एक च तिलस्तैलदाने समर्थ, तत्समुदाय च खार्यपि तैलदाने समर्था।

येषा पुनरवयवा अनर्थका, समुदाया अपि तेषामनर्थका। तद्यथा एको ऽन्धो दर्शने असमर्थ, तत्समुदाय च शतमप्यसमर्थम। एका च सिक्ता तैलदाने असमर्था, तत्समुदाय च खारीशतमप्यसमर्थम्।"

(महाभाष्य प्रत्याहाराह्निक, पृ० १४०)

भाष्यकार का तर्क है कि जैसे अवयव हैं समुदाय भी वैसा होता है। एक नयनवान पुरुष देख सकता है तो ऐसे पुरुषो का समुदाय भी देख सकता है। एक तिल तेल देता है तो तिलो का समुदाय भी तेल देता है—तेल का उत्पादन कर सकता है। किंतु एक अधा नही देख सकता। इसलिए अधो का समूह भी नही देख सकता। एक सिकता (रेत का कण) मे तेल नही मिलता तो सिकता की राशि से भी तेल प्राप्त नही हो सकता। अवयव के अनुरूप ही अवयवी बनता है। वर्ण अवयव हैं। वे निरर्थक हैं तो उनका समुदाय भी निरर्थक ही हो सकता है। किंतु हम अनुभव से जानते है कि वर्णसमुदाय—पद और वाक्य—सार्थक हैं। अत हमे मानना होगा कि समुदाय के अवयव वर्ण भी सार्थक है। भाष्यकार ने उक्त वार्त्तिक का ऐसा अभिप्राय बताया है।

१०५ भाष्यकार ने प्रातिपदिक सज्ञा के प्रकरण मे वार्त्तिककार के इस तर्क का खडन करके वर्णों की निरर्थकता तथा वर्ण समुदाय की सार्थकता को प्रामाणिक बताया है। 'दृष्टा हि अतद्गुणेन गुणिनोऽप्यभाव सुराङ्गवत् रथाङ्गवच्च।' (पृ० १४३ मे कैयट से उद्धृत वचन) गुड आदि विविध पदार्थो के योग से सुरा (शराब) बनती है। गुडादि सुरा के अवयव हैं। इन वस्तुओ मे मद (नशा) उत्पन्न करने की शक्ति नही है। किंतु जब इनका सघात बनता है—यही सुरा है— उसमे मादकता की शक्ति उत्पन्न होती है। रथ मे भी कई अवयव है—चक्र आसन, युग (जुआ) आदि। ये रथाग प्रत्येक या स्वतत्र रूप मे गति को नही पैदा करते। किंतु इन अगो का सघात—रथ—गति को पैदा करता है। अत यह तर्कसगत ही है कि अवयव तथा अवयवी मे गुणभेद होता है। अवयव निरर्थक हैं तो भी उनका समुदाय सार्थक हो सकता है। अत प्रत्येक वर्ण की सार्थकता को न मानें तो भी वर्णसमुदाय की सार्थकता को स्वीकार कर ही सकते हैं। इस स्थिति मे कैयट कहते है कि वर्ण समुदाय ही निष्पन्न नही होता— "समुदायाभावात तो उससे अर्थज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

१०६ कैयट ने कहा कि समुदाय नही है। इस कथन का औचित्य क्या है? वर्णों का समुदाय क्यो नही होता? कैयट का उत्तर है कि वर्ण के विषय मे दो पक्ष है। एक पक्ष मानता है कि उच्चारण से वर्ण की उत्पत्ति होती है दूसरा पक्ष कहता है कि उच्चारण से वर्ण की अभिव्यक्ति होती है। यदि उत्पत्ति को मानते हैं, तो यही कहना होगा कि वर्ण क्रम से उत्पन्न होते हैं। एक-काल मे सब वर्णो की उत्पत्ति नही हो सकती। जब प्रथम वर्ण का उच्चारण किया तब प्रथम वर्ण

फिर 'समुदायाभावात्' कहकर वाचकत्व का निषेध करना कहां तक ठीक है?

१०८ कयट कहते हैं कि एकज्ञानविषयत्व मात्र से समुदाय बनता है तो उसमें क्रमविशेष का निर्णय नहीं होगा। स्मृति अनुभव के क्रम से उत्पन्न होगी—ऐसा तो कोई नियम नहीं है। जिस वस्तु का अनुभव पहले हुआ उसका स्मरण बाद में तथा जिसका अनुभव बाद में हुआ उसका स्मरण पहले भी हो सकता है। अनुभव के बाद स्मरण अवश्यम्भावी नहीं है। कई विषय अनुभव के बाद विस्मृत भी हो जाते हैं। स्मरण की प्रक्रिया अनुभव की प्रक्रिया से नितांत भिन्न है। अतः यह जरूरी नहीं है कि जिस क्रम से ध्वनियों का उच्चारण किया गया उसी क्रम से उनका स्मरण भी होगा। सभी वर्णों का स्मरण होने पर भी क्रम में विपर्यास संभव है। क्रमनिरपेक्ष स्मरण से विवक्षित अर्थ का बोध नहीं होगा। 'सर' एक पद है। यह जलाशय (तालाब) का वाचक है। इस शब्द के घटक वर्ण चार हैं—सकार, अकार, रकार और विसर्ग। अकार दो हैं। इन्हीं घटकों से एक दूसरा पद बनता है—'रस।' इसका अर्थ भिन्न है। इससे जलाशय का तो बोध नहीं होता। किंतु दोनों शब्दों के घटक समान हैं। केवल क्रम में ही भेद है। एकज्ञानविषयत्व के आधार पर इस क्रम भेद तथा तन्मूलक अर्थभेद का निर्वाह कैसे होगा? अतः 'बुद्धिनिर्ग्राह्य' कहने पर भी वाचकत्व की उपपत्ति सिद्ध नहीं है। "एकस्मृत्युपारूढानां च वाचकत्वे सरो रस इत्यादावर्थप्रतिपत्त्यविशेष प्रसङ्गात्।" कयट का तर्क है कि शब्दजन्य अर्थज्ञान में वर्णक्रम का भी महत्त्व है।

१०९ तो इस अनुपपत्ति के संकट से बचने का क्या उपाय है? वैयाकरणों का मत है कि स्फोट का स्वीकार करने से यह अनुपपत्ति दूर हो जाती है। वर्ण तो व्यंजक हैं। उनसे स्फोट की व्यंजना होती है। वह तो नित्य है, सदा विद्यमान है। उसी से अर्थ का बोध होता है। कैयट ने भाष्यकार के उपर्युक्त वाक्य का यह तात्पर्य बताया। तो फिर भाष्यकार ने 'यनोच्चारितेन' क्यों कहा? स्फोट का तो उच्चारण नहीं होता। ध्वनियों का उच्चारण होता है। कयट ने इसकी संगति बतायी है—"उच्चारितेन। प्रकाशितेनेत्यर्थः।" भाष्य में 'उच्चारितेन' कहा है। इस शब्द का यहां तात्पर्य है—'उच्चार्यमाण ध्वनियों के माध्यम से व्यंजित या प्रकाशित।' इस प्रकार कयट ने स्पष्ट किया है कि पहले वाक्य में भाष्यकार ने 'स्फोट' को शब्द कहा। स्फोट की स्थापना को मानने वाले परवर्ती (पाणिनि के बाद के) आचार्यों में भर्तृहरि सर्वप्रमुख हैं। उनका ग्रंथ 'वाक्यपदीय' व्याकरण-दर्शन का महाग्रंथ है। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर भी एक टीका लिखी थी, जिसके कुछ अंश प्रकाशित हैं। पाणिनीय व्याकरण में भर्तृहरि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अतः कयट ने प्रामाणिक आचार्य के रूप में भर्तृहरि का स्मरण करके 'वाक्यपदीय' का नाम लिया है— 'विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः।' यह स्फोटवादी का उत्तर है।

१० १० भाष्यकार का दूसरा उत्तर है—"अथवा प्रतीतपदार्थका लोके ध्वनि शब्द"। यहाँ ध्वनि को ही 'शब्द' कहा गया है, ध्वनिव्यंग्य स्फोट को नहीं। तो क्या भाष्यकार 'स्फोट' को स्वीकार नहीं करते ? उन्होंने स्वय ही तो कहा कि शब्द के दो रूप होते हैं। एक नित्य है और दूसरा काय है। अत उनका ऐसा उत्तर देने म यही अभिप्राय लक्षित होता है कि लोकदृष्टि से हम 'ध्वनि' को ही शब्द कह तो भी कोई दोष नहीं। ध्वनि के अर्थ म 'शब्द' शब्द का प्रयोग तो प्रामाणिक है। कोई किसी को पुकारना चाहता है। दूसरे व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करने के लिए उसका नाम लेता है। किंतु धीमी आवाज से बोलता है तो दूसरा व्यक्ति सुन नहीं पाता। तब उसका मित्र कहता है—आवाज दो। "शब्द कुरु।" यहाँ शब्द' का अर्थ है ध्वनि। कोई लडका उच्च स्वर स बोल या चिल्ला रहा है। तो हम कहगे कि यह माणवक (लडका) शब्द कर रहा है—'शब्दकारी अय माणवक।" या हम उस लडके से कहते हैं—'मा शब्द कार्षी। शब्द मत करो।" यहाँ भी हम ध्वनि के अर्थ म शब्द' का प्रयोग करते हैं। इन उदाहरणो स सिद्ध होता है कि लोक व्यवहार म ध्वनि को शब्द मानते है। भाष्यकार इस पक्ष को स्वीकार करते हैं। यह सत्य है कि अर्थप्रत्यय स्फोट स ही होता है। वही असल मे शब्द है। यह तात्त्विक या पारमार्थिक दृष्टि है। किंतु स्फोटव्यजक ध्वनियो को व्यावहारिक दृष्टि से शब्द कहना गलत नहीं है। इस उत्तर का आशय कैयट ने बताया है—

"अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वात् इह अभेदेन व्यवहारेऽपि न दोष। इत्यादयो न शब्दशब्दवाच्या' इत्यत्र तात्पर्यम्।"

(भाष्यप्रदीप, पृ० १४)

१० ११ भाष्यकार न ध्वनि का एक विशेषण बताया है— प्रतीतपदार्थक।" इसका क्या अर्थ है ? कुछ व्याख्याताओ न बताया है कि शब्द' शब्द का अर्थ ध्वनि के रूप मे प्रतीत है अर्थात लोक से गृहीत है। शब्दो का अर्थ व्यवहार या प्रयोग स ही तो निश्चित किया जाता है। प्रयोक्ता ध्वनि के अर्थ के प्रतिपादन के लिए 'शब्द शब्द का प्रयोग करते है। श्रोता भी जानते है कि शब्द का अर्थ ध्वनि है। अत 'शब्द' शब्द का यह अर्थ लोकप्रतीत है। किंतु इस व्याख्या से यही सिद्ध होता है कि ध्वनि' मात्र शब्द है। हा, यह सत्य है कि शब्द के कई रूप होते है। मेघगर्जन, नदी प्रवाह का कल-कल, वायु का शब्द पशु पक्षी आदि की बोली—ये सभी शब्द के ही भेद हैं। ध्वनि शब्द, आवाज, Sound, Noise आदि को पर्याय मान सकते हैं। यह 'शब्द का अत्यंत व्यापक अर्थ है। किंतु व्याकरण म हम किन शब्दो का अन्वाख्यान करना चाहते हैं ? मेघगर्जनादि शब्दो का विवेचन यहा विवक्षित नहीं है। यहाँ तो 'भाषा' का विवेचन अभीष्ट है। अत प्रकृत संदर्भ म शब्द' की व्याख्या भाषापरक होनी चाहिए। कैयट न 'प्रतीत

पदार्थक" शब्द पर विचार नहीं किया। नागेश ने इस प्रतीक को लेकर निम्न शब्दों में व्याख्या की है—

"भाष्ये अथवा प्रतीतपदार्थक इति। लोके व्यवहृत यु पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्ध श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वात् वर्णरूपध्वनि समूह एव शब्द इत्यर्थ। तस्यार्थबोधकस्तापि अविचारितरमणीयस्यैव लोके सिद्धा। तादृशस्यैव शास्त्रेणा व्याख्यानमिति तात्पर्यम्।"

(उद्द्योत पृ० १४-१५)

प्रतीत' का अर्थ है प्रसिद्ध। ध्वनि पदार्थ का बोधक है—यह बात लोक-प्रसिद्ध है। अतः अर्थबोधक वर्णात्मक ध्वनि को हम 'शब्द' कहते हैं। भाष्यवाक्य का यह अर्थ नागेश ने बताया है। उन्होंने 'ध्वनि' और 'स्फोट' के भेद की व्याख्या करते कहा है कि इस प्रसंग में वैखरी को कैयट ने ध्वनि' कहा और मध्यमा-वस्थ शब्द को 'स्फोट' की संज्ञा दी। वाक् के चार भेद यों बताये जाते हैं—परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी। चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' (ऋग्वेद) में इन चार भेदों का संकेत मिलता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इन भेदों का विस्तृत वर्णन किया है। नागेश ने भी भर्तृहरि को प्रमाण मानकर कहा है— तत्र श्रोत्र विषया वैखरी। मध्यमा हृदयदेशस्था पद प्रत्यक्षानुपपत्त्या व्यवहारकारणम्। पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता। योगिनां तु तत्रापि प्रकृति प्रत्यय विभागावग-तिरस्ति। परायां तु न। (उद्द्योत पृ० ३३)

१० १२ हम जिन शब्दों को स्पष्ट रूप से बोलते हैं तथा सुनकर जिन शब्दों से वक्ता के अर्थ को ग्रहण करते हैं वे शब्द 'वैखरी' में आते हैं। श्रोत्र-विषया वैखरी'। यही हमारे भाषाव्यवहार का साधन है। यह ध्वन्यात्मक है। हृदयप्रदेश में अवस्थित वाक् को 'मध्यमा' कहते हैं। यह श्रोत्रग्राह्य नहीं है। नागेश इसी को मध्यमावस्थ आंतर शब्द कहते हैं और इसी को स्फोट मानते हैं। यह स्फोट श्रोत्रग्राह्य नहीं है। वह तो मन से गृहीत होता है—मानस प्रत्यक्ष का विषय है। नागेश ने कहा है—"तथा एकस्मिन्नेव तस्मिन्नुच्चारणक्रमेण क्रमवानेव तत्तद्वर्णस्वरूपानुराग, स च स्थिर, तस्य च मनसा ग्रहणमिति न दोष।" (उद्द्योत, पृ० १३)

१० १३ नागेश की उपर्युक्त व्याख्या तो ठीक है। किंतु "प्रतीतपदार्थक" का विग्रहवाक्य क्या है? यह किस प्रकार का समास है? नागेश ने व्याख्या में लिखा— 'लोके पदार्थ बोधकत्वेन प्रसिद्ध।" इस अर्थ को भाष्यकार के शब्द से कैसे प्राप्त किया जाय? कुछ विद्वानों ने यह मत प्रगट किया है कि 'प्रतीत पदार्थ क' एक कर्मधारय है। प्रतीत चासौ पदार्थ च प्रतीतपदार्थ। स एव प्रतीत पदार्थक। स्वार्थे कप्रत्यय। किंतु कर्मधारय मानने पर इस शब्द का अर्थ होगा—'प्रसिद्ध पदार्थ।' प्रकृत में इस अर्थ की संगति नहीं बैठती। तो उन्होंने

'पदार्थ' शब्द में लक्षणा मानकर उसका अर्थ बताया— 'पदार्थबोधक'। 'पदार्थ पदस्य तद्बोधके लक्षणा। तदेव प्रसिद्धो गवादि पदार्थ बोधक इत्यर्थो लभ्यते।' ('राजलक्ष्मी' टिप्पण, पृ० १४) इस व्याख्या में लक्षणा की कल्पना करना ही एक व्यर्थ क्लेश है। स्वार्थिक कप्रत्यय की कल्पना भी अस्वारस्य का कारण है। भाष्यकार ने पहले उत्तर में कहा था—"येन सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।" यहां 'येन' से—तृतीया से—करण विवक्षित है।

यहाँ भी शब्द प्रयोग इसी प्रकार का है। प्रतीत पदार्थो येन स =प्रतीतपदार्थक। यह बहुव्रीहि समास है। समासान्त प्रत्यय 'कप्' बहुव्रीहि में सुलभ है —'शेषाद विभाषा।' "प्रतीत ज्ञात पदार्थो गवादि यन।" गवादि अर्थों का ज्ञान जिस ध्वनि से होता है उसीको—वर्णात्मक ध्वनि को—शब्द कहते हैं। यह अर्थ स्वाभाविक लगता है। ध्वनि या शब्द वर्णात्मक भी है अन्य भी। अन्य ध्वनियों का किसी अर्थ विशेष में संकेत नहीं है। मेघ गर्जन को सुनकर हम वर्षा का भले ही अनुमान कर लें, किंतु मेघगर्जन रूपी शब्द का वर्षा के अर्थ में संकेत नहीं है। अर्थ विशेष में संकेतित वर्णात्मक ध्वनियों से गृहीतशक्तिक पुरुष को अर्थज्ञान प्राप्त होता है। इसी भाव को प्रगट करते हुए भाष्यकार ने कहा— 'प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः।"

१०.१४ भाष्यकार ने यहाँ शब्द की जो परिभाषा दी है, वह आधुनिक भाषाविज्ञानियों की परिभाषा से मिलती जुलती है। भाषाविज्ञानी कहते हैं कि यादृच्छिक वाचिक प्रतीकों की व्यवस्था (A System of arbitrary Vocal Symbols) ही भाषा है। हम हाथ के इशारे से या मुखचेष्टा से किसी अर्थ का बोध करा सकते हैं। ये इंगित भी तो सार्थक संकेत हैं। किंतु ये 'वाचिक' (Vocal) या वर्णात्मक नहीं हैं। जिन ध्वनियों से कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता, वे निरर्थक हैं, वे 'प्रतीक' (Symbols) नहीं हैं। ये सार्थक शब्द कैसे सार्थक बने? 'हरि' का अर्थ विष्णु है, 'हर' का अर्थ 'शिव' है। दोनों शब्द एक ही धातु से बने हैं। हरति इति हरिः। हरति इति हरः। 'हृ' धातु का अर्थ है हरण। जो हरण करता है वही 'हरि' या 'हर' कहलाता है। फिर भी यदृच्छा से—इसी को शास्त्रकार 'रूढि' कहते हैं—'हरि' शब्द विष्णु का वाचक बना और 'हर' शब्द शिव का। अतः किसी भी भाषा का कोई भी शब्द यदृच्छा पर ही आधारित होता है। शब्दों को यादृच्छिक (arbitrary) कहने का यही कारण है। किंतु क्या हम अपनी इच्छा से शब्दों को अर्थ दे सकते हैं? हिंदी में मैं अपनी इच्छा से 'पानी' शब्द का 'दूध' के अर्थ में प्रयोग नहीं कर सकता। तो यादृच्छिक शब्द तभी संकेत के रूप में स्वीकृत होता है जब उसे लोकव्यवहार में मान्यता प्राप्त होती है। फिर केवल शब्दों का समुदाय भाषा नहीं है। इन शब्दों का प्रयोग एक सर्वमान्य व्यवस्था के अनुसार होता है। वास्तव में कई प्रकार की व्यवस्थाएं साथ-साथ काम करती

हैं। ध्वनिव्यवस्था (Phonology), रूपव्यवस्था (Morphology), वाक्य-व्यवस्था (Syntax), अर्थव्यवस्था (Semantic System) आदि कई व्यवस्थाएँ भाषा को भाषा का स्वरूप प्रदान करती हैं। भाषा व्यवस्थाओं की व्यवस्था (a system of systems) है। आधुनिक भाषाविज्ञान ऐसी शब्दावली में भाषा के स्वरूप का वर्णन करता है।

१० १५ भाष्यकार की परिभाषा भी इसी प्रकार की है। "लोके ध्वनि शब्द इति उच्यते।' "लोके प्रतीतपदार्थक।' लोक का अर्थ है भाषा भाषी समुदाय। उनका व्यवहार ही शब्द और अर्थ का निर्णय करने का परम प्रमाण है। शब्द का रूप क्या है? उसका प्रयोग किस अर्थ में किया जाता है? किस उपसर्ग का किस धातु के साथ क्या अर्थ होता है? इस तरह के प्रश्नों का उत्तर कौन देगा? कोशकार शब्दों का अर्थ बताता है। वैयाकरण भाषा के नियम बताता है। किंतु कोशकार या वैयाकरण की बात हम क्यों मानें? यास्क ने निरुक्त में वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बताकर अर्थ का निरूपण किया। उन्हें यह कार्य करने का अधिकार किसने दिया? पाणिनि को अष्टाध्यायी लिखने के लिए किसने चुना? ये लोग स्वयं ही ग्रंथ लिखकर व्यवस्था देने लगे तो शिष्टसमाज ने उसे क्या स्वीकार किया? क्या किसी राजा ने या परमात्मा ने यास्क, पाणिनि आदि को कोश, व्याकरण आदि लिखने का आदेश दिया था? स्पष्ट है कि ये आचार्य किसी की आज्ञा से नहीं अपितु स्वाध्याय से—परिश्रम, अध्ययन, अवेक्षण, अनुसंधान तथा विमर्श से—शास्त्र निर्माण के अधिकारी हुए। इन्होंने भाषा का गंभीर अध्ययन किया, तथ्यों का संकलन किया, विविध प्रयोगों का संग्रह किया, इन तथ्यों का बार बार विवेचन किया। वर्षों तक इस प्रकार भाषा का अध्ययन-विवेचन करने के बाद ये आचार्य शब्दार्थ संबंध का निर्णय करने में समर्थ हुए। इनका एकमात्र आधार था लोक व्यवहार। अतएव कात्यायन ने पहला वार्तिक यही लिखा—"सिद्धे शब्दार्थ संबंधे लोकत।' शब्द, अर्थ और उनका संबंध—तीनों ही लोक सिद्ध हैं। यादृच्छिक (arbitrary) का अर्थ है लोकसिद्ध।

१० १६ प्रतीतपदार्थक ध्वनि।" यह 'वाचिक प्रतीक' का पर्याय है। अर्थज्ञानोपयोगी ध्वनि ही तो शब्द है। सार्थक तो प्रतीक ही हो सकता है। ध्वन्यात्मक प्रतीक को ही हम 'शब्द' मानते हैं। अतः इस विशेषण में यह तात्पर्य निहित है कि भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्द वाचिक या ध्वन्यात्मक प्रतीक ही होते हैं। इसके पूर्व ही कहा गया है—"अथ शब्दानुशासनम्।' यह अनुशासन व्यवस्था की कल्पना से ही संभावित है। भाषा का व्याकरण इसीलिए बनता है कि भाषा में व्यवस्था अंतर्निहित है। वास्तव में व्यवस्था रहित भाषा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उस व्यवस्था का उद्घाटन करना ही व्याकरण का काम है। वैयाकरण अपनी इच्छा से कोई नियम बनाकर भाषा पर लागू नहीं कर सकता।

सरकारी आज्ञा या कानून से भाषा की व्यवस्था में परिवर्तन करना संभव नहीं है। जो व्यवस्था भाषा में पहले से विद्यमान है उसका पता लगाना और उस पर प्रकाश डालना ही व्याकरण का काम है। अतएव इस शास्त्र को 'शासन' न कहकर 'अनुशासन' कहते हैं। इसी अर्थ में 'अन्वाख्यान' शब्द का भी प्रयोग करते हैं— "प्रयुक्तानामेव अन्वाख्यानात्।" 'अनुशासन' तथा 'अन्वाख्यान' में जो 'अनु' उपसर्ग लगा है उसका यही संकेत है कि भाषा की व्यवस्था तो स्वयंसिद्ध है और उसी का अनुसरण करके यह शास्त्र निर्मित हो रहा है। अतएव कहा जाता है कि जो शब्द लोकप्रयुक्त नहीं हैं उनके विषय में शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती—"यथा लक्षणमप्रयुक्ते।" प्रयोग ही इस शास्त्र का मूल प्रमाण है—"प्रयोगशरणा वैयाकरणाः।" इस प्रकार भाष्यकार की उपर्युक्त परिभाषा आधुनिक भाषाविज्ञान की मान्यताओं के अनुकूल पायी जाती है।

११. स्फोट' या नित्य शब्द को कुछ वैयाकरण मानते हैं। स्फोट के स्वरूप के बारे में वैयाकरणों में ही अनेक मत पाए जाते हैं। नैयायिक स्फोट की कल्पना को निरर्थक कहते हैं। वे कार्यशब्दवादी हैं। भाष्यकार ने इसीलिए कहा कि शब्द चाहे नित्य हो चाहे अनित्य, हर स्थिति में हमें व्याकरण का निर्माण तो करना ही चाहिए। यह प्रश्न दर्शन के क्षेत्र का है। व्यावहारिक बात तो यही है कि भाषा के सम्यग् ज्ञान के लिए व्याकरण की आवश्यकता है। भाष्यकार ने पस्पशाह्निक में कहा—

"किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्वित् कार्यः ? संग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितं 'नित्यो वा स्यात्, कार्यो वा' इति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यपि उक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—"यद्येव नित्योऽथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।"

(महाभाष्य, पृ० ४६)

'संग्रह' एक ग्रंथ का नाम है। आचार्य व्याडि इस ग्रंथ के लेखक हैं। कैयट ने इतना ही बताया—"ग्रंथविशेषे"। नागेश ने विवरण दिया है कि यह ग्रंथ व्याडि की रचना है और इसका परिमाण लक्ष श्लोकात्मक है—"संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रंथ इति प्रसिद्धिः।" (उद्द्योत, पृ० ८७)

व्याडि ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करके अपना निर्णय यही दिया कि शब्द की नित्यता या अनित्यता से व्याकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नित्यत्व अनित्यत्व का विचार हमारे कार्य की दृष्टि से उपयोगी नहीं है। नागेश स्पष्टवादी हैं। उन्होंने लिखा—

"एवं च निष्फलोऽयं विचार इति भावः।" (उद्द्योत, पृ० ४७)

इसका तात्पर्य है कि शास्त्र प्रवृत्ति की दृष्टि से यह विचार व्यर्थ है। किंतु तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तो स्फोट का विचार करना अनिवार्य है। अतः अगले अध्याय में स्फोट के स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया जाएगा।

तृतीय अध्याय

स्फोट का स्वरूप

१ वैयाकरणो न शब्द के दो रूप माने हैं। एक रूप नित्य है। उसकी उत्पत्ति नही हाती अतएव उसका विनाश भी नही होता। वह अनादि और अनत है—"अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सप्टा स्वयभुवा।" स्वयभू का अथ है परमात्मा। परमात्मा न वाक् या शब्द का प्रकाशन किया। श्वताश्वतर उपनिषद का कथन है कि ईश्वर ने सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया। यह ब्रह्मा ही सष्टिकर्ता प्रजापति है। यह चतुर्मुख है। ईश्वर ने ब्रह्मा को वेदा का उपदश दिया—

"यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं
यो व वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।"

सृष्टि से पूव ही वेदो का अस्तित्व था। वद अपौरुषेय, सनातन ग्रथ है। ईश्वर उसका प्रकाशन करने वाला गुरु है, वह ग्रथकार नही है। योगदशन म ईश्वर को सवप्रथम गुरु कहा है—'स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात। अत श्रद्धालु लोगो का यह विश्वास है कि वद नित्य है। इसी कारण से मीमासको ने भी स्वीकार किया कि शब्द नित्य है।

२ शब्द का दूसरा रूप अनित्य है। इसकी उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के बाद विनाश अनिवाय है। ध्वनियो को अनित्य शब्द मानते हैं। हम उच्चारण करते है तो ध्वनियो की उत्पत्ति होती है। शरीरा तवर्ती मारुत के आघात से ककार आदि ध्वनिया उत्पन्न होती है। हमारे पूवजो ने उच्चारण प्रक्रिया का अध्ययन करके उच्चारण स्थान प्रयत्न आदि का विवचन किया। शिक्षा और प्रातिशाख्य के ग्रथो म ध्वनिविज्ञान का मार्मिक निरूपण पाया जाता है। पश्चिम के विद्वान तो आधुनिक युग मे विविध यत्रो की सहायता से ध्वनियो का अध्ययन कर रहे हैं। ध्वनिविज्ञान म प्रगति हो रही है। अत यह हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि उच्चारण से ध्वनियो की उत्पत्ति होती है और तुरत—एक क्षण के बाद—ध्वनिया का विनाश भी होता है। इसी अथ मे ध्वनिया को 'उच्चरित प्रध्वसी' कहते है। अत अनित्य शब्द के विषय मे किसीका मतभेद नही है। यह सववादि-समत है।

३ शब्द के नित्य रूप के विषय म शास्त्रकार एकमत नही है। नैयायिक शब्द की नित्यता को स्वीकार नही करते। वैयाकरण नित्य शब्द को स्वीकार करते है। उन्होंने ऐसे शब्द का नामकरण किया है— 'स्फोट"। स्फोट से ही अर्थ का बोध होता है। अतएव यह नाम सार्थक है। "स्फुटति अर्थ अस्मादिति स्फोट।" किंतु यह स्फोट क्या है? कुछ लोग वर्णात्मक स्फोट को मानते हैं। वर्ण ही अर्थ के बोधक हैं। पद और वाक्य वर्णों के ही समूह हैं। वे 'वर्णस्फोटवादी' हैं। कुछ लोग वर्णों को वाचक नही मानते। पद को केवल वर्णों का समूह नही कहते। उनके मत म पद वर्णातिरिक्त हैं। पद ही वाचक हैं। ये लोग 'पदस्फोट' को मानते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य वैयाकरण कहते हैं कि पद भी स्वतन्त्र रूप से वाचक नहीं हो सकते। वे वाक्य को ही अर्थबोधक मानते हैं। वाक्य भी वर्ण-व्यतिरिक्त इकाई है। अत वे 'वाक्यस्फोट' का स्वीकार करते है। कुछ लोग वर्ण, पद या वाक्य को 'व्यक्ति' मानते हैं। अर्थात् कई वर्ण, कई पद तथा कई वाक्य होते हैं। व्यक्ति असंख्य एव अनंत होते है। इन लोगो को 'व्यक्तिस्फोटवादी' कहते हैं। कुछ लोग ऐसे अनंत व्यक्तियो मे अनुगत एक सामान्य धर्म 'जाति' को पहचानते हैं। ये 'जातिस्फोट' को स्वीकार करते है। इस तरह स्फोट के विषय म वैयाकरणो म भी कई प्रकार के मत हैं।

४ मीमांसक और वेदान्ती तो शब्दनित्यत्ववादी है। वर्ण नित्य हैं। वर्णों की आनुपूर्वी ही तो वेद है। अत वेद को नित्य मानते है। गीता के तीसरे अध्याय म दो श्लोक यज्ञचक्र का वर्णन करते हैं। उनकी व्याख्या के प्रसंग म द्वैतमत के प्रतिष्ठापक श्रीमध्वाचार्य ने वर्णों की नित्यता का प्रतिपादन किया है। श्री यादवप्रकाश ने 'स्फोट' का स्पष्ट उल्लेख किया है। गीता के श्लोक नीचे उद्धृत हैं—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि
पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो,
यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि
ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म
नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं
नानुवर्तयतीह यः।

४ २ श्री यादवप्रकाश आदि कुछ आचार्यों ने 'ब्रह्म' शब्द का अथ स्फोट बताया था। "स्फोटस्त्व वणसश्रय।" इस प्रमाण के आधार पर व्याख्या की थी ब्रह्म ही स्फोट के रूप म अथप्रकाशक होता है। श्रीरामानुजकृत गीताभाष्य की टीका "तात्पयचद्रिका' मे श्री वेदा तदेशिक ने ऐसी सूचना दी है—

"यादवप्रकाशाद्युक्त ब्रह्मशब्दस्य स्फोटादिपरत्व, मक्षराणा तदव्यञ्जकत्वादिक च तत्तत्प्रक्रियादूषणादेव निरस्तम। 'स्फोटस्त्व वणसश्रय' इति तु वर्णानां स्वार्थस्फुटीकरणशक्तिपरम।"

(तात्पयचद्रिका, प० २१६)

इन उद्धरणो से स्पष्ट होता है कि मीमासक तथा वदान्ती वणनित्यत्व या शब्दनित्यत्व को मानते तो है, 'किंतु स्फोट' या 'शब्दब्रह्म' की धारणा का वैयाकरणो की तरह पूण रूप से स्वीकार नही करत।

५ 'शब्दकौस्तुभ म श्री भट्टोजि दीक्षित ने स्फाटतत्त्व का सक्षिप्त निरूपण किया है। उनके विचार इस प्रकार हैं— वण वाचक नही हैं। व अथप्रत्यायक नही हा सकत। स्फोट ही एकमात्र वाचक है। इस स्फोट के विषय म आठ पक्ष है। पाच पक्ष व्यक्तिस्फोटवादी है। तीन पक्ष जातिस्फोटवादी हैं। व्यक्तिस्फोट के पाच प्रकार हैं— वणस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखडपदस्फाट तथा अखडवाक्यस्फोट। जातिस्फोट के तीन प्रकार हैं—वणजातिस्फोट पदजातिस्फाट तथा वाक्यजातिस्फोट। इस प्रकार विविध ग्रथो म आठ पक्षो का निरूपण किया गया है। दीक्षितजी न लिखा है—

"वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटकनिष्ठा। तत्र चाष्टौ पक्षा। वणस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट, तादृग वाक्यस्फोट। इत्य पञ्च व्यक्तिस्फोटा। वण-पद वाक्य भेदेन त्रिविधो जातिस्फोट इति।"

(शब्दकौस्तुभ, प० १२)

५ १ 'वणस्फोट' वादी का यह विचार है कि प्रयोग म उपलब्ध सभी वण अपनी विशिष्ट आनुपूर्वी म सन्निविष्ट होकर अथ का बाध कराते हैं। कितन वण किस क्रम म सम्मिलित होकर वाचक बनत हैं? यह तो प्रयाग से ही निश्चित किया जा सकता है। कही-कही शब्दो म वण का कुछ व्यत्यय करन पर भी अथ-प्रतीति म बाधा नही पडती। एक उदाहरण क रूप म 'कृ' धातु को लें। पाणिनीय धातुपाठ म "डुकृञ्" के रूप म यह धातु उपलब्ध है। इसका अथ है करण' (करना)। 'डु' इत है— आदिर्ञिटुडव।' अतिम ञकार भी इत है। हल त्यम्। दोना अनुबधो का लाप करन पर कृ बचता है। यही करणार्थबोधक धातु है, क्योकि व्याकरण न इसी धातु को इस अथ म स्वीकार किया है। कोश और व्याकरण शक्तिग्राहक प्रमाण हैं। धातुपाठ कोश क रूप म है और व्याकरण का अग है। "भूवादयो धातव। धातुसज्ञा पाठ पर आधारित है। अत 'कृ

अघायुरिन्द्रियारामो
मोघं पार्थ स जीवति॥"
(गीता, तृतीय अध्याय, श्लोक १४ १६)।

इस संदर्भ में श्री शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ वेद माना, अक्षर का अर्थ परमात्मा कहा और यह तात्पर्य बताया कि परमात्मा का निःश्वसित होने के कारण वेद सर्वार्थप्रकाशक है—"तच्च कर्म ब्रह्मोद्भवं, ब्रह्म वेदः स उद्भवः प्रकाशको यस्य तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि विजानीहि। ब्रह्म पुनः वेदाख्यमक्षरसमुद्भवम्, अक्षरं परमात्मा समुद्भवो यस्य। ब्रह्म वेद इत्यर्थः।" (शांकर भाष्य, पृ० २१६ २१७)।

इसी प्रसंग में श्री मध्वाचार्य ने लिखा—

"अक्षराणि प्रसिद्धानि। तेभ्यो हि अभिव्यज्यते परं ब्रह्म, अन्यथा अनादिनिधनमचिन्त्यं परिपूर्णमपि ब्रह्म को जानाति? × × × तानि अक्षराणि नित्यानि, "वाचा विरूपनित्यया" "वर्णे चोदस्व सुष्टुतिम्" "अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" "अत एव च नित्यत्वम्" इत्यादि श्रुतिस्मृति भगवद्वचनेभ्य। × × × उत्पत्तिवचनान्यभिव्यक्त्यर्थानि, अनिमानिदेवताविषयाणि च। नित्या इत्युक्त्वा उत्सृष्टेति वचनात्। अभिव्यञ्जके कर्तृ वचनं चास्ति, "कृत्स्नं शतपथं चक्रे" इति। कथमादित्यस्था वेदास्तेनैव क्रियन्ते? × × × तस्माद् वेदप्रमाणकत्वमेवात्र विवक्षितम्। अतो नित्यानि अक्षराणि।"

(श्रीमध्वभाष्य, पृ० २१८ २२१)

४ १ श्रीमध्वाचार्य का कथन है कि इस गीतावाक्य में 'ब्रह्म' शब्द परमात्मा का वाचक है। अक्षर वेदों का पर्याय है। अक्षरों से ब्रह्म का ज्ञान होता है। वेद ही तो प्रमाण है। इस प्रमाण के अभाव में अनादिनिधन और अचिंत्य ब्रह्म को जानने का कोई अन्य उपाय नहीं हो सकता। वेद तो नित्य हैं। 'वाचा विरूपनित्यया' आदि नित्यत्व के प्रमाण हैं। कुछ मंत्रों में उत्पत्ति बतायी गयी है— ऋचः सामानि जज्ञिरे। यजुस्तस्मादजायत। तस्मात्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त।" यहां वेदों की जो उत्पत्ति बतायी गयी है उसका अर्थ अभिव्यक्ति लेना चाहिए। परमात्मा ने वेदों का प्रकाशन किया। अनादिनिधना' कहकर वाक् की नित्यता स्थापित करने के बाद फिर 'उत्सृष्टा' कहकर जो उत्पत्ति बतायी जाती है, वह पूर्वापर विरोध का परिहार करने की दृष्टि से अभिव्यक्ति के अर्थ में ही स्वीकृत हो सकती है। याज्ञवल्क्य ने शतपथ का प्रकाशन ही तो किया था। किंतु 'कृत्स्नं शतपथं चक्रे' में कहा गया है कि वे इस ग्रंथ के कर्ता हैं। अतः 'कर्ता' का अर्थ 'प्रकाशक' या 'अभिव्यंजक' समझना चाहिए। यही नित्य वेद ईश्वर के विषय में प्रमाण है। "शास्त्रयोनित्वात्।" इस सूत्र में कहा गया है ब्रह्म का प्रमाण वेदरूप शास्त्र ही है। अतः यह सिद्ध है कि अक्षर नित्य है।

४ २ श्री यादवप्रकाश आदि कुछ आचार्यों ने 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ स्फोट बताया था। "स्फोटस्त्व वर्णसश्रय।" इस प्रमाण के आधार पर व्याख्या की थी ब्रह्म ही स्फोट के रूप म अर्थप्रकाशक होता है। श्रीरामानुजकृत गीताभाष्य की टीका "तात्पर्यचन्द्रिका" मे श्री वेदान्तदेशिक ने ऐसी सूचना दी है—

"यादवप्रकाशाद्युक्त ब्रह्मशब्दस्य स्फोटादिपरत्व, मक्षराणा तद्व्यञ्जकत्वादिक च तत्तत्प्रक्रियादूषणादेव निरस्तम। 'स्फोटस्त्व वर्णसश्रय' इति तु वर्णाना स्वार्थस्फुटीकरणशक्तिपरम।"

(तात्पर्यचन्द्रिका पृ० २१६)

इन उद्धरणो से स्पष्ट होता है कि मीमासक तथा वेदान्ती वर्णनित्यत्व या शब्दनित्यत्व को मानते तो है, किंतु 'स्फोट' या 'शब्दब्रह्म' की धारणा को वैयाकरणो की तरह पूर्ण रूप से स्वीकार नही करते।

५ 'शब्दकौस्तुभ' म श्री भट्टोजि दीक्षित ने स्फोटतत्त्व का सक्षिप्त निरूपण किया है। उनके विचार इस प्रकार है—वर्ण वाचक नही हैं। व अर्थप्रत्यायक नही हो सकते। स्फोट ही एकमात्र वाचक है। इस स्फोट के विषय म आठ पक्ष हैं। पाच पक्ष व्यक्तिस्फोटवादी हैं। तीन पक्ष जातिस्फोटवादी हैं। व्यक्तिस्फोट के पाच प्रकार है—वर्णस्फोट पदस्फोट, वाक्यस्फोट अखडपदस्फोट तथा अखडवाक्यस्फोट। जातिस्फोट के तीन प्रकार है—वर्णजातिस्फोट पदजातिस्फोट तथा वाक्यजातिस्फोट। इस प्रकार विविध ग्रथो म आठ पक्षो का निरूपण किया गया है। दीक्षितजी न लिखा है—

"वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटकनिष्ठा। तत्र चाष्टौ पक्षा। वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट, तादृग वाक्यस्फोट। इत्थ पञ्च व्यक्तिस्फोटा। वर्ण पद वाक्य भेदेन त्रिविधो जातिस्फोट इति।"

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १२)

५ १ 'वर्णस्फोट' वादी का यह विचार है कि प्रयोग म उपलब्ध सभी वर्ण अपनी विशिष्ट आनुपूर्वी म सनिविष्ट होकर अर्थ का बोध करात हैं। कितन वर्ण किस क्रम म सम्मिलित होकर वाचक बनते हैं? यह तो प्रयोग से ही निश्चित किया जा सकता है। कही कही शब्दो म वर्ण का कुछ व्यत्यय करन पर भी अर्थ-प्रतीति म बाधा नही पडती। एक उदाहरण के रूप म 'कृ' धातु को लें। पाणिनीय धातुपाठ मे "डुकृञ" के रूप मे यह धातु उपलब्ध है। इसका अर्थ है 'करण' (करना)। "डु' इत है— 'आदिर्ञिटुडव।" अन्तिम ञकार भी इत है। हलन्त्यम्। दोनो अनुबधो का लोप करन पर 'कृ' बचता है। यही करणार्थवाचक धातु है क्योकि व्याकरण न इसी धातु का इस अर्थ म स्वीकार किया है। कोश और व्याकरण शक्तिग्राहक प्रमाण है। धातुपाठ कोश क रूप म है और व्याकरण का एक अग है। "भूवादयो धातव।" धातुसज्ञा पाठ पर आधारित है। अत 'कृ'

धातु की शक्ति को हम कोश तथा व्याकरण से जानते हैं। इस धातु में दो वर्ण हैं। पहला ककार और दूसरा ऋकार है। किंतु 'कृ' का रूप सर्वत्र अविकृत नहीं रहता। कहीं इसका रूप है—कर्। कर्ता, कर्तव्य कर्म, करण आदि शब्दों में यह रूप मिलता है। इस रूप में ऋकार के स्थान पर दो वर्ण आए हैं—अकार और रेफ। कहीं इसका रूप 'कार' है। कार्य, कारक, कारयति आदि में यह रूप मिलता है। 'कर' में अकार ह्रस्व है तो 'कार' में आकार दीर्घ है। अन्य वर्ण समान हैं। कहीं इसका रूप 'कुर' मिलता है। कुरुत, कुर्वन्ति, कुर्व, कुर्म कुरु आदि में यह रूप पाया जाता है। यहां अकार के स्थान पर उकार का प्रयोग हुआ है। कहीं इसी का रूप 'चकर' मिलता है। लिट् लकार में गुण तथा द्वित्व के कारण यह रूप बनता है। उत्तम पुरुष एकवचन का रूप है—'चकर'। कहीं वृद्धि के कारण इसका रूप 'चकार' होता है—'चकार'। कहीं द्वित्व तो होता है गुण नहीं होता। वहां का रूप है—'चकृ'। चकृतु, चकृः, चकृव, चकृम। यण संधि से रेफान्त रूप बनता है—'चक्र'। सन्नन्त स्थल में इसी धातु का रूप है—'चिकीर्'। चिकीर्षति, चिकीर्षा। यङ्लुगन्त में 'कृ' का रूप है—'चकर'। चकरीतम। कई शब्दों में मूल रूप 'कृ' अविकल भी मिलता है—कृत, कृति आदि। "कृत्यम् सप्टिकृत्" आदि में इसका रूप 'कृत्' है—'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्।' इतने विभिन्न रूपों में किसे वाचक मानें? किस वाचक का कौन रूप स्मारक है? वास्तव में ये सभी रूप पर्याय हैं। सभी वाचक हैं तथा प्रकाशक हैं। इन विभिन्न रूपों में से किसको हम प्राथमिकता दें? 'कृ' को—धातु रूप को—वाचक मानें तो 'कर' आदि विकृत रूपांतर क्या वाचक नहीं हैं? यदि यह कल्पना करें कि 'कर्' आदि रूपांतर अपने मूल रूप के स्मारक हैं और स्मर्यमाण मूलरूप से ही अर्थबोध होता है तो जो वैयाकरण नहीं है और मूल रूप को नहीं जानता, उसे अर्थज्ञान कैसे होता है? किस रूप से किस रूप का स्मरण होता है? स्थानी और आदेश की व्यवस्था तो शास्त्रकल्पित है। शब्दनित्यत्वपक्ष में भाष्यकार ने यही सिद्धांत अपनाया कि 'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते।' आगम, आदेश, लोप आदि सब व्याकरण की कल्पना है। अतः ये सभी रूप अविशेषेण वाचक हैं।

५.२ दीक्षितजी का एक तर्क यह भी है कि भाषा में जो समानार्थक (पर्याय) शब्द हैं उनमें भी यही व्यवस्था उचित मानी गयी है कि प्रत्येक शब्द वाचक है। बैल के वाचक तीन शब्द हैं—ऋषभ, वृषभ, वृष। हम यह तो नहीं कहते कि इनमें से कोई एक शब्द ही वाचक है और बाकी दोनों स्मारक हैं। 'ऋषभ' को वाचक स्वीकार करें और कहें कि वृषभ और वृष इसी के रूपांतर हैं तथा ये दोनों शब्द 'ऋषभ' का स्मरण कराकर तद्व्यवधान से अर्थबोध में सहायक होते हैं तो क्या इसे आचार्य स्वीकार करेंगे? आपत्ति उठायेंगे कि

कि वक्त, वक्ता और वृणे प्रत्यय विशेषापेक्ष नियतविषय होने के कारण परिपूरक वितरण (Complementary Distribution) में आते हैं। इनको 'सरूप' (Allomorph) कह सकते हैं। किंतु इससे वाचकत्व में कोई अंतर नहीं पड़ सकता।

६ दीक्षितजी ने आगे कहा कि कुछ पदों में साधक अंशों का पृथक्करण करना कठिन होता है। 'रामम्'। यह द्वितीया एकवचन का रूप है। द्वितीया का प्रत्यय है 'अम्'। राम+अम्=रामम्। यहां प्रातिपदिक तथा प्रत्यय के अकार का सवर्णदीर्घ प्राप्त था। किंतु दीर्घ को हटाकर पूर्वरूप प्रवृत्त हुआ है— अमि पूर्वः। यह पूर्वरूप एकादेश है, पूर्ववर्ती (प्रातिपदिकान्त) और परवर्ती (प्रत्ययस्थ) दोनों अकारों के स्थान में एक ही आदेश है— 'एकः पूर्वपरयोः।' अब यह शंका उत्पन्न होती है कि 'रामम्' एक सुबन्त पद है, इसमें प्रातिपदिक का अंश कितना है और प्रत्यय का अंश कितना है? क्या हम ऐसा विभाजन करें कि 'राम'— यह अकारान्त अंश प्रातिपदिक है और केवल मकार प्रत्यय है? कोई यदि कहता है कि 'राम्' यह मकारान्त अंश प्रातिपदिक है और 'अम्' प्रत्यय है, तो उस कथन में अनुपपत्ति क्या है? एकादेश के विषय में पाणिनि ने यह विधान दिया— 'अन्तादिवच्च'। वह पूर्वान्तवत् माना जा सकता है अथवा परादिवत्। अतः दोनों ही विभाजन शास्त्रसम्मत हो सकते हैं। कोई विनिगमक प्रमाण नहीं है। ऐसे एकादेश के उदाहरण भी असंख्य हैं। 'रामेण, रामे, हरौ, हरीन्' आदि में एकादेश हुआ है। राम+इन=रामेण। यह तृतीया एकवचन का रूप है। तृतीया का प्रत्यय 'टा' है, उसके स्थान पर 'इन' का आदेश है— टाङसिङसामिनात्स्याः।' 'रामे' सप्तमी एकवचन है। सप्तमी का प्रत्यय है 'ङि'। ङकार इत् है। प्रत्यय में केवल इकार बचता है। राम+इ=रामे। 'रामेण' और 'रामे' में गुणसंधि है। 'रामे' में एकादेश को पूर्वान्तवत् मानते हैं तो प्रत्यय ही नहीं बचता। 'हरौ' सप्तमी एकवचन का रूप है। 'अच्च घेः।' हरि शब्द के इकार के स्थान पर अकार होता है सप्तमी एकवचन ङि के स्थान पर औकार होता है फिर दोनों स्वरों के स्थान पर वृद्धि एकादेश है। हरि+इ=हर+औ=हरौ। अथवा इसे अकारान्त 'हर' शब्द का रूप —प्रथमा या द्वितीया के द्विवचन में—मान सकते हैं। हर+औ=हरौ। वृद्धिरेचि। हरीन्। यह द्वितीया बहुवचन का रूप है। हरि+शस्=(शकार का इत्संज्ञा के कारण लोप) हरि+अस=हरीस→हरीन। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। यह दीर्घ एकादेश है। तस्माच्छसो नः पुंसि। ऐसे उदाहरण भाषा में अनंत हैं। यहां सर्वत्र यही शंका होती है कि एकादेश के बाद प्रकृति और प्रत्यय के अंशों का विभाजन किस आधार पर करें? प्रातिपदिक से द्रव्य का बोध होता है। कारक और संख्या का प्रत्यय से बोध होता है। किंतु हम प्रातिपदिक

और सुप् का ठीक-ठीक विभाजन करने म असमर्थ हैं। अत कुछ वयाकरण मानत हैं कि यहा प्रातिपदिक अथवा प्रत्यय स्वतत्र रूप से वाचक नहीं है। पूरा पद ही एक इकाई क रूप म वाचक है। द्रव्य, कारक और सख्या—इन तीनो अर्थों की प्रतीति पद से ही होती है। पदान्तगत प्रातिपदिक और प्रत्यय वाचक पद की रचना के लिए अपेक्षित हैं। अथ उनमे नही अपितु पद म ही निहित है। यही 'पदस्फोट' कहलाता है। दीक्षितजी के वाक्य हैं—

"राम, रामेण, रामाय, हरये, हरौ, हरीन" इत्यादौ परिनिष्ठिते रूपे कि यानन्तो द्रव्यादिवाचक क्रियारच कमत्यादे रित्यस्य विनिर्गन्तुमशक्यतया 'राम' मित्यादि परिनिष्ठत पदमेव वाचक कमत्वादिविशिष्टस्येति पदस्फोटपक्ष।"

(शब्दकौस्तुभ पृ० १३-१४)

६ १ दीक्षितजी के उदाहरणो म 'रामाय' तथा हरये इन दा ग म एका दश नही है। अत यहा प्रकृति तथा प्रत्यय का विभाजन करन म कोई समस्या नही है। 'रामाय' म सुप् प्रत्यय है—'य'। ङेय। चतुर्थी एकवचन ङे' क स्थान पर 'य' का आदेश विहित है। यकारादि प्रत्यय क कारण प्रातिपदिका त अकार का दीघ हुआ—'सुपि च'। अत यहा दार्घा त रामा' प्रातिपदिक है। 'हरय भी चतुर्थी एकवचन है। हरि + ङे। प्रत्यय का ङकार इत् है। हरि + ए। घेर्ङिति। ङित प्रत्यय के कारण गुण होना है। प्रातिपदिक क इकार का एकार होना है—हर + ए। एचोऽयवायाव। हरय + ए। यहा भी स्पष्ट है कि यकारा त अग प्रातिपदिक है और एकार प्रत्यय है। किन्तु, 'रामम रामेण रामे इत्यादि म तो ऐसा असदिग्ध विभाजन नही हो सकता। राजा, सीता, नदी इत्यादि पद हैं, किन्तु यहा प्रत्यय लुप्त है। तव प्रत्ययाथ का बाध किससे होता है? हम अवश्य मानना होगा कि पद स ही विशिष्टाथ का बाध होता है। ता फिर 'रामाय' आदि म भी पद को वाचक मानना युक्ति युक्त ठहरता है। इसी भाव से दीक्षितजी न इन उदाहरणा को स्थान दिया है।

७ अब हम कुछ अ य उदाहरणो को दखें। दधीदम। हरेऽव। विष्णोऽव। य वाक्य हैं। प्रत्येक वाक्य म दो शब्द हैं। दधि + इदम्=दधीदम,। यह दही है। सस्कृत म उद्देश्य और विधेय समानाधिकरण हे ता 'अस्ति' क्रिया की अपेक्षा नही रहती। यह क्या है? किमिदम? प्रश्न म भी क्रिया 'अस्ति' प्रयुक्त नही। इसका उत्तर है—'दधीदम।" यह दही है। उत्तर मे भी क्रिया प्रयुक्त नही है। अप्रयुक्त होकर भी एसे वाक्यो मे 'अस्ति क्रिया विद्यमान रहती है—यह भाष्य कार का निणय है—"अस्तिभवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानो प्यस्ति।' दधि + इदम। सवणदीघ से वाक्य का रूप बनता है—दधीदम। हरे + अव। ह हरि, रक्षा करो। विष्णो + अव। उभयत्र पूवरूप एकादश होता है—एङ पदा तादति। ऐसे अ य उदाहरण भी वही सख्या मे दिये जा सकते है। राम + आगच्छ=रामागच्छ।

राम + अयम = रामोऽयम । अन + आनय = अनानय । फलानि + इच्छामि = फलानीच्छामि । अन + उपविश = अनोपविश । सीता + एषा = सीतैषा । सर्वत्र एकादेश के कारण पदों के विभाजन में कठिनाई पैदा होती है। 'दधी'—पहला पद दीर्घांत है तो दूसरा पद 'द' होगा। 'ईद' को दूसरा पद मानें तो पहला पद 'दध्' धकारांत होगा। परादिवद्भाव को मानने पर भी हम धकार को पदांत नहीं कह सकते। पदांत कहें तो जश्त्व की प्राप्ति होगी। अतः पदों को वाचक मानने के स्थान पर पूरे वाक्य को ही विशिष्टार्थ का वाचक मानना उचित होगा। तब तुल्ययोग से सर्वत्र वाक्य को ही वाचक कहना चाहिए। पद तो वाक्यशक्ति के निष्पादक घटक है। जिस प्रकार वर्ण स्वयं वाचक न होते हुए भी पद की निष्पत्ति के लिए अनिवार्य हैं उसी प्रकार पद भी वाक्य की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित घटक हैं। वस्तुतः कोई एक पद का—पूर्वापर संबंध के बिना—प्रयोग नहीं करता। वाक्य के अंग के रूप में ही पद प्रयुक्त होते हैं। एक पदात्मक वाक्य होते हैं किंतु वहां प्रसंगानुकूल पदांतर का समभिव्याहार विवक्षित होता है। किसी ने पूछा—क्या राम कल आपके यहां आया? उत्तर है "आया"। देखने में तो यह एकपदात्मक वाक्य है। किंतु 'आया' यहां एक वाक्य का प्रतिनिधि है—"कल राम मेरे यहां आया।" इसे अध्याहार कहते हैं। अध्याहार में विभक्ति-विपरिणाम भी अंतर्भूत रहता है। भाष्यकार ने एक रोचक उदाहरण यों दिया है— देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो वैधवेय । देवदत्त इति गम्यते।" पहले वाक्य में 'देवदत्तस्य' षष्ठी में है। देवदत्त के पास गायें हैं, घोड़े हैं और सोना भी है। दूसरे वाक्य में दोनों पद प्रथमांत हैं। अतः प्रथम वाक्य के षष्ठ्यंत 'देवदत्त' पद का प्रथमा में विपरिणाम करके समझ लेते हैं— देवदत्त आढ्य।' अतः अध्याहार भाषा व्यवहार का एक अंग है। जहां एक ही पद वाक्य के स्थान पर प्रयुक्त है वहां पदांतर का अध्याहार स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार कुछ वैयाकरण वाचकत्व की विश्रांति वाक्य में ही मानते हैं। यही वाक्यस्फोट का पक्ष है। दीक्षितजी ने लिखा—

दधीद, विष्णोव हर इत्यादावपि विनिगमनाविरहः तौल्याद् वाक्यमेव विशिष्टार्थे भवतमिति वाक्यस्फोट।' (शब्दकौस्तुभ पृ० १८)

७.१ कुछ मीमांसक अन्विताभिधानवादी हैं। कुछ अभिहितान्वयवादी हैं। पद से प्रथम स्तर पर पदार्थ का अभिधान हो जाता है और तब वाक्य के दूसरे पदों के कारण पदार्थ का अन्वय पदार्थ के साथ करते हैं। अतः अन्वय से पूर्व भी अभिधान (अर्थ का बोध) हो सकता है। अन्विताभिधानवादी तो मानते हैं कि अन्वित पदार्थ का भान ही नहीं होता। सर्वत्र पदों से अन्वित (अर्थांतर संबद्ध) अर्थ का ही बोध होता है। इस पक्ष में केवल पद अर्थबोधक नहीं हो सकता। वाक्यस्थ पद ही विशिष्ट रूप से अन्वित अर्थ का बोध पैदा करता है।

वाक्यस्फोटवादी तो पदों का वाचकत्व ही नहीं मानता। वह तो कहता है कि वाक्य ही वस्तुत वाचक है, पद केवल वाक्य-रचना के घटक हैं।

८ यह पद या वाक्य क्या है ? कुछ लोग कहते हैं कि वर्णों का समुदाय ही पद है और पदों का समुदाय ही वाक्य है। इस मत के अनुसार वाक्य भी अन्तता-गत्वा वर्णों का समुदाय ही है। किन्तु कुछ वैयाकरण पद तथा वाक्य को एक अखड वस्तु मानते हैं। "एक पदम्" एक वाक्यम्"—इस प्रकार की प्रतीति हमें होती है। बाधक प्रमाण के अभाव में यह प्रतीति पद तथा वाक्य के एकत्व की सिद्धि के लिए पर्याप्त है। अत पद या वाक्य वर्णों से भिन्न इकाई है। अखड पद को मानने वाले स्वीकार करते हैं कि वर्णों से पद की अभिव्यक्ति होती है किन्तु उनका कहना है कि पद वर्णात्मक नहीं है। वह वर्णव्यतिरिक्त है। यह अखडपद-स्फोट है। कुछ वैयाकरण तो अखड वाक्य को ही वाचक मानते हैं। य अखड-वाक्यस्फोट को स्वीकार करते हैं। ये पाच प्रकार के व्यक्ति-स्फोट हुए।

८ १ वर्णातिरिक्त पद या वाक्य को मानते हैं, तो वह पद या वाक्य वर्णरूपी अवयवों से भिन्न कैसे हो सकता है ? वर्णसमूह से भिन्न पद या वाक्य किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? प्रमेय की सिद्धि तो प्रमाणाधीन है। 'एक पदम्" "एक वाक्यम्'—यह एकत्व प्रतीति ही वर्णातिरिक्त पद या वाक्य की सत्ता का प्रमाण है। तन्तुओं से पट बनता है। "एक पट" की प्रतीति से पट का एकत्व प्रमित होता है। इसी प्रकार 'एक पदम्" की प्रतीति से पद का एकत्व सिद्ध होता है। तुल्य न्याय से वाक्य का एकत्व भी प्रमित होता है। इस एकत्व की प्रतीति को औपाधिक या हेत्वन्तरकृत कहने का कोई औचित्य नहीं है। स्वरस-सिद्ध प्रतीति का अपलाप या अन्यथा निर्वाह करना ठीक नहीं है। अत पद या वाक्य का एकत्व स्वीकाराह है।

८ २ अब यह शका होती है कि पद या वाक्य वर्णसमूह नहीं, किन्तु वर्णा-तिरिक्त है तो इस किस तरह का पदार्थ कहना चाहिए ? दीक्षितजी का उत्तर है कि यह 'भाव' रूप पदार्थ है। अभाव का प्रतिद्वन्द्वी है। भावात्मक पदार्थ द्रव्य, गुण आदि कई प्रकार के हैं। उनमें से किसमें पद या वाक्य का अन्तर्भाव मान सकते हैं ? अर्थात् क्या यह द्रव्य है या गुण है ? पूर्वपक्षी की इस शका के उत्तर में दीक्षितजी का कहना है कि यह द्रव्यादि पदार्थों में अन्तर्भूत नहीं है। यह एक स्वतन्त्र, अतिरिक्त पदार्थ है। इस उत्तर पर पुन आक्षेप किया जाता है कि शास्त्र-कारों से स्वीकृत द्रव्यादि पदार्थों से भिन्न एक नये पदार्थ को मानने से क्या गौरव का दोष नहीं प्रसक्त होगा ? समाधान यह है कि प्रमाणसिद्ध वस्तु को स्वीकार करने में लाघव या गौरव की चर्चा अप्रासगिक है। ससार में गाय नाम के प्राणी कितने हैं ? अनन्त हैं। क्या गौरवदोष के भय से मान लिया जाय कि गोव्यक्ति एक ही है ? अत जब वर्णातिरिक्त पद या वाक्य प्रामाणिक प्रतीति से सिद्ध हो रहा

है, तब उसको स्वीकार करने मे कोई दोष नही है।

८३ इस अखड स्फोट के विषय मे दीक्षितजी ने लिखा है—

'एक पद" इतिवद "एक पद वाक्य वा" इति अबाधित प्रतीते वर्णाति रिक्तमेव पद वाक्य वा अखड वर्णव्यग्यम। एकत्वप्रतीतिरौपाधिकीति चेत, पटेऽपि तथात्वापत्ते। क पदार्थोऽसाविति चेत, भाव। भावविशेषेषु क्वान्तर्भवतीति चेत, स्वरपरिभाषितेषु द्रव्यादिषु मान्तर्भूत, नहि एतावता प्रमाणसिद्ध प्रत्याख्यातु शक्यते। अनियतपदार्थवादे गौरवमिति चेत, व्यक्तीयत्ता तत्रापि नास्ति। उपाधीयत्ता तु सर्वे सुवचा। भावत्वाभावत्वाभ्या नित्यत्वानित्यत्वादिना वा विभजनात। भावविभाजकोपाधयस्तु घटविभाजकोपाधिवदव अनावश्यका।"

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १४)

दीक्षितजी ने इस उद्धरण म निम्नलिखित बातो की स्थापना की है—

१ पद या वाक्य वर्णातिरिक्त है और एक अखड—अविभाज्य—इकाई है।

२ वर्ण पद या वाक्य के व्यजक होते हैं। इसका तात्पर्य है कि पद या वाक्य वर्णसमूह नही है, बल्कि उनसे व्यजित पदार्थान्तर है।

३ पद या वाक्य के एकत्व की प्रतीति प्रामाणिक है। वह उपाधि म जन्य असत्य प्रतीति नही है।

४ यह स्वतत्र पदार्थ भावात्मक है।

५ द्रव्य, गुण आदि जो पदार्थ अन्य शास्त्रकारो से स्वीकृत हैं, उनसे यह भिन्न है। द्रव्यादि म पद या वाक्य का अन्तर्भाव हम नही मानते। किन्तु इसे द्रव्यादि विलक्षण स्वतत्र 'भाव' के रूप मे मानते हैं।

६ "नैयायिक आदि अन्य शास्त्रकारो द्वारा स्वीकृत द्रव्यादि पदार्थ ही मान्य हैं। इनसे भिन्न कोई पदार्थ नही है।" ऐसी कल्पना सर्वथा निराधार है। पदार्थ की सत्ता प्रमाणगम्य है। किसी शास्त्रकार या आचार्य की स्वीकृति या अस्वीकृति पर पदार्थ की सत्ता निर्भर नही होती। प्रमाणसिद्ध पदार्थों को स्वीकार करना चाहिए।

७ पदार्थ—व्यक्तिगत इकाइयो (individual units) के रूप म—अनत (infinite) हैं। उनकी इयत्ता या परिच्छेद नही है। किन्तु पदार्थों के विभाजक धर्म—उपाधि—सीमित हैं। भाव और अभाव के रूप मे विभाजन कर सकते हैं। अथवा कह सकते हैं कि पदार्थ दो प्रकार के हैं—नित्य और अनित्य।

८ जिस प्रकार घट के विभाजक उपाधियों की चर्चा करना अनावश्यक है उसी प्रकार भाव के विभाजक उपाधियो की चर्चा करना भी व्यर्थ है। घट कई प्रकार के हो सकते हैं। कई आकारो के, कई रगो के तथा कई प्रयोजनों के घट हो सकते हैं। छोटे बडे आदि और भी भेद बना सकते हैं। शास्त्रकार की दृष्टि म इन भेदोपभेदो की चर्चा का कुछ महत्त्व नही है। इसी प्रकार भाव के भी कई भेद

हो सकते हैं। अखड पद या वाक्य एक प्रकार का भाव है। इसके आगे चर्चा करने की कोई आवश्यकता नही है।

८४ दीक्षितजी ने स्पष्ट किया है कि इन दोनो मतो मे—अखड पद स्फोट तथा अखड वाक्य स्फोट के मतो मे—वर्णों की सत्ता भी गौण मानी जाती है। वर्ण तो श्रुतिगोचर है, श्रावण प्रत्यक्ष से गृहीत होते हैं। तो वर्णों की सत्ता का अपलाप करना कैसे उचित होगा ? दीक्षितजी का उत्तर है कि ककार आदि जो वर्ण हैं वे वस्तुत 'स्फोट' ही है। ध्वनियां व्यजक हैं। व्यजक ध्वनियो से उपहित स्फोट का ही ककार आदि के रूप मे हम ग्रहण करते है और उस रूप से व्यवहार करते हैं। ध्वनि उपाधि है। अत स्फोटातिरिक्त कोई वर्ण नही है। दीक्षितजी के ये शब्द द्रष्टव्य हैं—

"अस्मिश्च पक्षद्वये वर्णा अपि अनावश्यका । ननु अनुभवसिद्धा ते इति चेत् ? व्यञ्जकध्वनिविशेषोपहितस्फोट एव ककाराद्यात्मना व्यवह्रियते इति अभ्युपगमात।"

(शब्दकौस्तुभ पृ० १४)

८५ वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु नामक ग्रथ मे स्फोट सिद्धान्त के निरूपण के प्रसग मे कहा कि 'वास्तव मे ककार से भिन्न गकार नही है।' इस कथन का क्या आशय है ? ककार अघोष वर्ण है। गकार सघोष है। 'वागीश' आदि शब्दों मे ककार के स्थान मे गकार का आदेश विहित है—"झला जशोऽन्ते।" जैसे तो 'वाच'—यह एक चकारान्त प्रातिपदिक है। वाचम् वाचा' इत्यादि रूपो मे चकार का श्रवण होता है। पदान्त मे कुत्व विधान के कारण चकार के स्थान मे ककार का आदेश होता है। "चो कु ।" इस ककार का जशत्व से गकार होता है—वागीश, वाग्वज्र इत्यादि। तो फिर च, क ग आदि ध्वनियो मे जो स्पष्ट भेद है उसका अपलाप कैसे करें ? "ककार से भिन्न गकार नही है' —इसका औचित्य क्या है ? वाचस्पति मिश्र का तात्पर्य यही है कि यहा व्यजक ध्वनियो मे भेद है, किन्तु उस ध्वनि से व्यजित होने वाले स्फोट मे कोई भेद नही है। वाचस्पति मिश्र का वाक्य निम्नांकित है—

"वस्तुत ककारादतिरिच्यमानमूर्तेः गकारस्याभावात।"

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १४ मे उद्धृत)

८५१ दीक्षितजी ने इस अभेद के बावजूद प्रतीत होने वाले भेद की उपपत्ति दिखाने के लिए एक उदाहरण दिया है। पतजलि आदि आचार्य मानते हैं कि ऋकार मे रेफ भी एक अवयव के रूप मे निहित है। ऋकार रेफगर्भ है। अत एव 'मातृणाम्' इत्यादि मे षष्ठी प्रत्यय 'नाम' के नकार का णत्व होता है—"रषाभ्या नो ण समानपदे।" वार्तिककार ने "ऋवर्णान्नस्य णत्व वाच्यम्' कहकर इसी बात को स्पष्ट किया है। यह वार्तिक अप्राप्तविधायक नही है, किन्तु प्राप्ता-

नुवाद मात्र है। किन्तु ऋकारावयव रेफ तथा स्वतन्त्र रेफ में भेद तो प्रतीत होता ही है। ऋकारवर्ती रेफसदृश अवयव में रेफ का अवभास (प्रतीति) होता है। उसी प्रकार स्फोट में भी ककारादि वर्णों का अवभास होता है। बस, यह अवभास ही भेदप्रतीति का आधार है। अन्यथा अभेद ही पारमार्थिक है। दीक्षितजी ने कहा—

"यथा वा अखण्डेष्वपि ऋकारादिषु वर्णेषु वर्णान्तरसमानाकारकदेशावभास, तथाऽत्र पक्षे वर्णाविभासोपि भविष्यति।"

(वही, पृ० १४)

दीक्षितजी का मत है कि वास्तव में ऋकार अखंड है। णत्वादि कार्य की सिद्धि के लिए उसके अवयवों की कल्पना की जाती है। अतः वर्णान्तर (रेफ) के समान एक अवयव का अवभास ही माना जा सकता है। इसी प्रकार स्फोट भी अखंड है। किन्तु उसमें ककारादि वर्णों का अवभास ही होता है। इस मत की पुष्टि के लिए दीक्षितजी ने दो प्रख्यात आचार्यों की उक्तियाँ प्रमाण के रूप में उद्धृत की हैं। पहली उक्ति बोपदेव की है—

(१) "शक्यत्व इव शक्तत्वे
जातेर्लाघवमीक्ष्यताम्।
औपाधिको वा भेदोऽस्तु
वर्णानान्तरमन्वक्षत॥"

दूसरी उक्ति आचार्य भर्तृहरि की है—

(२) "पदे न वर्णा विद्यन्ते
वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्त
प्रविवेको न कश्चन॥"

८.५.२ बोपदेव का कथन है कि शब्द अपनी शक्ति (अभिधा) से अर्थ का बोध उत्पन्न करता है। नैयायिकों ने कहा है—'अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा शक्तिः।' शब्द वाचक है, अर्थ वाच्य है। उनका संबंध है वाच्य वाचक भाव। यही शक्ति है। वैयाकरण शब्द और अर्थ का तादात्म्य संबंध मानते हैं। इसी को 'शक्ति' की संज्ञा दी जाती है। शक्ति शब्द में निहित है। अतः शब्द को 'शक्त' कहते हैं। 'शक्त' का अर्थ है शक्तियुक्त। शक्ति से प्राप्त अर्थ को 'शक्य' (वाच्य) कहते हैं। शास्त्रकारों ने 'अर्थ' के विषय में काफी गंभीरता से विचार किया। शब्द का अर्थ व्यक्ति है या जाति है? 'व्यक्ति' को शक्यार्थ मानें तो जिस व्यक्ति में शक्ति का ग्रहण हुआ सिर्फ उसी एक व्यक्ति का बोध शब्द से हो सकता है अन्य व्यक्तियों का नहीं, क्योंकि उन व्यक्तियों में शक्तिग्रह नहीं हुआ और अगृहीतशक्तिक शब्द से अर्थबोध नहीं हो सकता। किसी एक गोव्यक्ति में गोशब्द की शक्ति गृहीत हुई तो केवल उसी गोव्यक्ति का बोध हो सकता है। अन्य गायों

का बोध कैसे हो ?

८ ५ ३ वर्तमान काल में जो गोव्यक्ति विशेष हैं वे अनंत हैं। इन सब व्यक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। इसी प्रकार अतीत काल के तथा भविष्यत काल के व्यक्ति विशेष भी अनंत हैं। ये हमारे लिए परोक्ष है। तो इनमें शक्तिग्रह की संभावना तक असिद्ध है। ऐसी स्थिति में गोशब्द से इन समस्त गो व्यक्तियों का बोध कैसे हो सकता है? इस कठिनाई का निवारण करने के लिए शास्त्रकारों ने कहा कि 'गो' पद की शक्ति व्यक्ति में नहीं, अपितु जाति' में मानते हैं। *यही जातिशक्तिवाद है। जाति नित्य है। व्यक्ति अनित्य है। शब्द का अर्थ* जाति है, तो जाति के आश्रय से समस्त व्यक्तियों का बोध हो सकता है। "गामानय' (गाय को लाओ) इत्यादि वाक्यों में जाति का आनयन संभव नहीं होने के कारण जाति के द्वारा व्यक्ति तक पहुंचना अनिवार्य है। व्यक्ति का ही तो आनयन हो सकता है। इस तरह जाति विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति की स्थापना नैयायिकों ने की है। कुछ शास्त्रकार जाति को स्वीकार नहीं करते। बोपदेव की मान्यता है कि जाति एक है तथा नित्य है। अतः जातिशक्तिवाद में लाघव' है। यह शक्यत्व' (शक्तिलभ्य अर्थ ही शक्य है) में लाघव की बात हुई।

८ ५ ४ अब विचार करें कि वाचक—शक्त—शब्द क्या है? ' घट" शब्द अनेक हैं। जितने वक्ता 'घट' का उच्चारण करते हैं उतने 'घट' शब्द बनते हैं। एक ही वक्ता जितनी बार 'घट' शब्द का प्रयोग करता है उतने घट शब्द उसी एक के उच्चारण से बनते हैं। इस प्रकार वक्तभेद तथा उच्चारणभेद से घट' शब्द भी अनंत सिद्ध होते हैं। अब हमने 'घट' की शक्ति घड़े में ग्रहण की। किंतु हमने किस 'घट' शब्द की शक्ति ग्रहण की? किसी एक 'घट' शब्द की शक्ति ग्रहण की तो केवल उसी 'घट' शब्द से हम अर्थबोध की प्राप्ति हो सकती है, अन्य 'घट' शब्दों से अर्थज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उन शब्दों की शक्ति को हमने कभी ग्रहण नहीं किया। जिस शब्दव्यक्ति की शक्ति गृहीत है वही अर्थबोध उत्पन्न कर सकता है। *अन्य शब्द अगृहीतशक्तिक होने के कारण बोधक नहीं बन सकते।* इस अनुपपत्ति के निवारण के लिए हमें यह मानना होगा कि 'शक्ति' शब्दव्यक्ति में नहीं अपितु शब्दजाति में निहित है। 'घट' शब्द अनंत हैं। उन सब में 'घट-शब्दत्व' जाति एक है। घटशब्दत्वजाति से विशिष्ट सभी शब्द अर्थबोधक बन सकते हैं क्योंकि शब्दजाति ही 'शक्त' है। शक्तत्व में लाघव का तात्पर्य यही है। 'शक्यत्व इव शक्तत्वे जातेर्लाघवमीक्ष्यताम्"—इस वाक्य का यह अर्थ निकलता है कि जातिरूप अर्थ वाच्य है और जातिरूप शब्द वाचक है। इस प्रकार जाति को ही वाचक तथा वाच्य मानने के बाद बोपदेव ने वर्णों के भेद की उपपत्ति 'औपाधिक' होने के कारण बतायी। वर्ण तो एक ही है। तारत्व मन्दत्व आदि भेद उपाधिकृत हैं। इसी प्रकार हम कहते हैं कि स्फोट एक है, किंतु ककार गकार

आदि वर्णों का भेद औपाधिक है। बोपदेव की उक्ति से दीक्षितजी ने इस प्रकार अपने मत की पुष्टि की।

८.५.५ आचार्य भर्तृहरि का कथन तो बहुत स्पष्ट है। वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में—इसे ब्रह्मकाण्ड भी कहते हैं—उन्होंने पहले शब्दनित्यतावादी मीमांसकों का मत प्रस्तुत किया। मीमांसक मानते हैं कि वर्ण एक है। विभिन्न पदों में आवृत्त होने वाले वर्ण की एकता प्रामाणिक है। कमल, कर, कच, कटु आदि शब्दों में ककार पहला वर्ण है। थाक, त्वक् आदि पदों में ककार अंतिम है। रक्त, प्रकार आदि में ककार मध्यवर्ती है। किंतु ये सभी ककार एक हैं। "यह वही ककार है।" "स एवायं ककारः।" यह प्रत्यभिज्ञा एकत्व का प्रमाण है। इसी प्रकार पद भी भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयुक्त हो सकते हैं। "हरिः गच्छति। हरिः करोति। हरिः पठति। हरिः पश्यति।" इन सभी वाक्यों में "हरिः"—इस एक ही पद की आवृत्ति हुई है। वाक्य भिन्न हैं, किंतु उनमें प्रयुक्त पद एक ही है। पद भिन्न हैं किंतु उनमें प्रयुक्त वर्ण एक ही है। भर्तृहरि ने मीमांसकों की इस मान्यता को प्रस्तुत किया—

"पदभेदेऽपि वर्णाना-—
मेकत्वं न निवर्तते।
वाक्येषु पदमेकं च
भिन्नेष्वप्युपलभ्यते॥"

(वाक्यपदीय १.७१)

यह तो वही 'हरि' पद है। "तदेवेदं पदम्।" ऐसी प्रत्यभिज्ञा के कारण पद का एकत्व भी सिद्ध होता है। अतः मीमांसक मानते हैं कि वर्ण ही पद हैं। वर्ण समुदाय को ही तो 'पद' कहते हैं। वर्णातिरिक्त पद क्या है? पद अवयवी या अंगी है। वर्ण उसके अंग या अवयव हैं। अंगी अंगों का समुदाय ही होता है। "न तावत् समुदायिभ्यः समुदायोऽतिरिच्यते।" इसी तर्क से कहा जा सकता है कि पदों का समूह वाक्य है। वाक्य पदों से भिन्न नहीं है। पदों के घटक वर्ण हैं। अतः पद, पदबंध, उपवाक्य, वाक्य आदि ये सब मूलतः 'वर्ण' ही हैं। भर्तृहरि ने इस मत की व्याख्या में लिखा है—

"न वर्णव्यतिरेकेण
पदमन्यच्च विद्यते।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च
व्यतिरिक्तं न किंचन॥"

(वाक्यपदीय १.७२)

इस तरह वर्णवादी मीमांसकों की बात भर्तृहरि ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत की। श्लोकवार्तिक में स्फोटवाद प्रकरण में वर्णातिरिक्त पद का निषेध करते हुए

कहा है—

"विच्छिन्नयत्नव्यङ्ग्य च
नित्य सर्वगतरपि।
व्यतिरिक्तपदारम्भो
वर्णैर्नात्रोपपद्यते॥"

८ ५ ६ भर्तृहरि न अपने मत की स्थापना करते हुए कहा कि वस्तुत अखड वाक्य ही सत्य है। उसी की सत्ता प्रमाणसिद्ध है। वाक्य के अवयव क रूप म पदो की सत्ता मिथ्या है। पद की प्रतीति उपाधिकृत है। पद क अवयव वण भी मिथ्या हैं। वर्णों के अवयव भी मिथ्या ह। वाक्य की व्याख्या करन क लिए ऐस मिथ्याभूत अवयवो की कल्पना कर ली जाती है। वाक्य ही अथ का वाचक है। उनक शब्द असदिग्ध हैं—(१) पद न वर्णा विद्यन्त। पदो म वण नही होत। वर्णों का अवभास औपाधिक है। (२) वर्णेष्ववयवा न च। वर्णों म अवयव भी नही होते। ऋकार के गभ मे रेफ है। एसी उक्ति कायविशेष (णत्व) की सिद्धि के लिए आहृत है। किन्तु यह मिथ्या कल्पना है। (३) वाक्यात पदानामत्यन्त प्रविवको न कश्चन। (वाक्यपदीय, १ ७३) वाक्य म पृथक पदो की कोई सत्ता नही है। यह सारी कल्पना वाक्य के सम्यक ज्ञान के लिए अपेक्षित है। कहा गया है—

"उपाया शिक्षमाणाना
बालानामुपलालना।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा
तत सत्य समीहते॥"

'स्फोटसिद्धि म भी कहा है—

'नानेकावयव वाक्य
पद वा स्फोटवादिनाम्॥"

दीक्षितजी न अखडवाक्यस्फोट के प्रमाण क रूप म वाक्यपदीय की उपयुक्त (१ ७३) कारिका को उद्धृत किया है।

८ ६ पहले व्यक्तिस्फोट के तीन प्रकार बताये थे—(१) वणस्फोट (२) पदस्फोट (३) वाक्यस्फोट। अब दो और भेद इस सूची म जोड दिये गये—(४) अखडपदस्फोट (५) अखडवाक्यस्फोट। कुल मिलाकर व्यक्तिस्फोट के पाच भेद इस प्रकार बन जाते हैं। इस बात को दीक्षितजी न स्पष्ट किया—

'तस्मादखण्ड पद वाक्य वेति पञ्चापि व्यक्तिस्फोटावान्तरभेदा।"

(शब्दकौस्तुभ पृ० १४)

९ इसके विपरीत कुछ वैयाकरण 'जातिस्फोट' को स्वीकार करते हैं। वर्ण अनेक हैं। एक अकार की आवृत्तिया अनत होती हैं। घट' पट' 'करोति' 'चरति' आदि अनत पदो म अनत अकार पाये जाते हैं। इसी प्रकार अन्य वण भी

अनन्त होते हैं। "स एवायमकार।" ऐसी प्रत्यभिज्ञा से एकत्व की सिद्धि नहीं होती, किंतु सजातीयत्व की ही सिद्धि होती है। अतः 'अत्व' जाति को मानकर समस्त अकारों का अनुगम करना चाहिए। वार्त्तिककार ने पहले वर्णैकत्ववाद का उपस्थापित किया—'एकत्वादकारस्य सिद्धम।" (महाभाष्य, प्रत्याहाराह्निक, पृ० ८८) भाष्यकार ने इसकी व्याख्या में कहा कि भाषा में उपलब्ध सभी अकार एक है—

"एकोऽयमकार, यः च अक्षरसमाम्नाये, यः च अनुवृत्तौ, यः च धात्वादिस्थ।"

(वही, पृ० ८८)

किंतु स्वयं वार्त्तिककार ने 'एकत्व' का निराकरण करते हुए कहा—"आन्यभाव्य तु कालशब्दव्यवायात।" "युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात्।" (वही, पृ०९३) इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने लिखा है कि "दण्ड+अग्रम" में संहिता की अविवक्षा में कालव्यवधान के कारण अकारों का भेद सिद्ध होता है। 'दण्ड' में दकारोत्तरवर्ती अकार तथा डकारोत्तरवर्ती अकार भिन्न है, क्योंकि दोनों के बीच णकार तथा डकार का व्यवधान है। "आन्यभाव्य त्वकारस्य। कुत? काल व्यवायात शब्दव्यवायाच्च। कालव्यवायात—दण्ड अग्रम। शब्द व्यवायात—दण्ड। न चैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम।" (वही, पृ० ९३) इस प्रकार वर्ण की अनेकता को सिद्ध करने के बाद वार्त्तिककार ने जातिस्फोट को स्वीकार करते हुए कहा—'आकृतिग्रहणात सिद्धम।' (वही, पृ० ९६) इस वार्त्तिक की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है—'अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सवमवर्णकुल ग्रहीष्यति। तथा इवर्णाकृति। तथा उवर्णाकृति।" (वही, पृ० ९६) भाष्यकार ने यह भी कहा कि जातिपक्ष का आश्रयण करने पर सवर्णग्राहकता के लिए सूत्रारंभ करने की आवश्यकता नहीं होगी। 'अणुदित सवर्णस्य चाप्रत्यय।" यह ग्रहणकशास्त्र सवर्णग्रहण के लिए अपेक्षित है। जातिपक्ष में सवर्ण का ग्रहण जाति के कारण ही संभव हो जाने से इस सूत्र को व्यर्थ मानते हैं—'सवर्णोऽणग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादन यत्वाच्च।' (वही पृ० ९७) वार्त्तिककार ने एक और तर्क दिया है कि व्यक्तिपक्ष में ग्रहणकशास्त्र का आरंभ करने पर भी अवात्ताम आदि रूपों की सिद्धि संभव नहीं। यह वस धातु का, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन में रूप है। लुङ् लकार में अडागम होता है। विकरण प्रत्यय 'सिच' में सकार बचता है। अवस्+स्+ताम। 'सः स्यार्धधातुके।' इससे धातु के सकार के स्थान में तकार। 'वदव्रज हलन्तस्याच।' इससे अकार की वृद्धि आकार। अवात+स+ताम्। अब 'झलो झलि' सूत्र से सकार का लोप होने पर अवात्ताम—यह रूप बनता है। किंतु 'झल' प्रत्याहार में एक ही तो 'त' कार आ सकता है (व्यक्तिपक्ष के कारण)। पहला तकार झल् है तो दूसरा झल् नहीं है। दूसरे को झल् मानते हैं

तो पहला फल नही हो सकता। सूत्र का अर्थ है कि झल के बाद आने वाले सकार का लोप होता है यदि परवर्ती वर्ण झल हो। तो फिर इस सूत्र का उदाहरण क्या हो सकता है? कैयट ने कहा—'अभित्था' इत्यादि उदाहरण है। अभिद्+स +थाम। पहले दकार एक झल है बाद मे थकार एक झल् है। यहा सकार दो झल वर्णों के बीच म है, अत लोप हुआ है। सूत्र तो एसे उदाहरणो मे सार्थक बन गया। कैयट ने इस सदर्भ की व्याख्या म लिखा है—

"व्यक्तिपक्षे हि एकस्यैव तकारस्यानुकरण 'खफछठथ' स्यन तकार इति द्वयो स्तकारयो झलत्व न स्यात, अपि तु एकस्यैव। इति अवात्तामित्यत्र सिज्लोपो न स्यात। अभित्था इत्यादावेव स्यात।"

(भाष्यप्रदीप, पृ० ६७)

अत व्यक्तिपक्ष म यह एक प्रबल अनुपपत्ति है। ग्रहणकशास्त्र से यहा काई सहायता नही मिलती। तकार अण' प्रत्याहार म नही है। वार्तिककार न "हल्-ग्रहणषु च' कहकर इस तर्क को उपस्थापित किया। भाष्यकार ने विशद व्याख्या की—

"हलग्रहणेषु च। किम? आकृतिग्रहणात सिद्धमित्येव। झलो झलि। अवात्ताम अवात्तम अवात्त। अत्र एतन्नास्ति—'अण सवर्णान गृह्णाति' इति।

(*महाभाष्य, पृ० ६७*)

इस प्रकार वार्तिककार तथा भाष्यकार दानो ने जातिस्फाट का प्रतिपादन किया है। अतएव कैयट ने 'आकृतिग्रहणात सिद्धम' वार्तिक की अवतारिका म स्पष्ट शब्दो म लिखा—

"एव व्यक्तिस्फोटपक्षे निराकृते जातिस्फोटपक्ष एवाश्रीयते।"

(भाष्यप्रदीप पृ० ६६)

१० जातिस्फोट के तीन अवातर भेद हैं—(१) वर्णजातिस्फाट (२) पद-जातिस्फोट (३) वाक्यजातिस्फोट। व्यक्तिस्फोट पाच प्रकार का है और जाति-स्फोट तीन प्रकार का। इस तरह स्फाट के आठ पक्ष शास्त्रो म वर्णित हैं। दीक्षितजी न लिखा है—"अष्टावपि एते पक्षा सिद्धान्तग्रन्थेषु तत्र तत्र उप-निबद्धा।"

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १५)

ग्रथो मे आठो पक्षो का निरूपण किया गया है। इसका सक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत किया जाएगा। किंतु आठ पक्षो म किसको वैयाकरण मान्यता देते हैं? यह कुतूहल का विषय है। दीक्षितजी न सरल किंतु स्पष्ट शब्दो म बता दिया कि वाक्यजातिस्फोट को ही सर्वमान्य सिद्धात के रूप म ग्रहण किया जाता है। उनक शब्द हैं—

"यद्यपि इह अष्टौ पक्षा उक्ता, तथापि वाक्यस्फोटपक्षे तात्पर्यं ग्रथकृताम।

तत्रापि जातिस्फोट इत्यवधेयम। पूवपूर्वोपमर्दनेव उत्तरोत्तरोप यासात।"

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १५)

पहले तो व्यक्तिस्फोट की चर्चा की। वर्णस्फोट की अनुपपत्ति के कारण पदस्फोट को स्वीकार किया। उसकी न्यूनता को देखकर वाक्यस्फोट पर पहुचे। वर्णातिरिक्त वाक्य का मानने के कारण—पद और वर्ण को मिथ्या कहकर—अखण्डवाक्यस्फोट को स्वीकार किया। यह भी व्यक्तिस्फोट का ही एक प्रकार है। व्यक्तिपक्ष म उदभावित अनुपपत्तियो के निराकरण के लिए जातिपक्ष का ग्रहण किया। इस तरह पूर्व-पूर्व पक्षो का निराकरण करने के बाद अतिम रूप मे वाक्य-जातिस्फोट को मान्यता दी है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य सभी पक्ष केवल सोपान है, वाक्यजातिस्फोट ही सवमान्य सिद्धात है। भर्तृहरि ने तो 'स्फोट' को शब्द ब्रह्म ही कह दिया है —"समारम्भस्तु भावानामनादि ब्रह्म शाश्वतम।" व्याकरण दशन का यही सिद्धा त है।

११ भाष्यकार ने शब्दनित्यत्व को स्वीकार किया है। सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'—इस वार्तिक की व्याख्या मे कहा—' सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति।' (पृ० ४७) यहा 'सिद्ध' का अर्थ नित्य बताया गया है। इस भाष्य का तात्पर्य बतलाते हुए कयट ने लिखा है—

"तत्र नित्य शब्दो जातिस्फोटलक्षण, व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा। कार्यशब्दिकानामपि मते प्रवाहनित्यतया। अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम। द्रव्यपक्षेऽपि सवशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व वाच्यमिति नित्यता। प्रवाहनित्यतया वा। सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परया अनादित्वान्नित्यता।"

(भाष्यप्रदीप, पृ० ४७)

प्रवाहनित्यता तो गौण है। एक वस्तु के नष्ट होने पर भी उसी जाति की अन्य वस्तु रहती है। इस अनुवर्तमानता (Continuity) को ही प्रवाहनित्यता कहते है। किंतु व्यक्तिस्फोट या जातिस्फोट के रूप म शब्द की नित्यता मुख्य है। उत्पत्ति तथा विनाश से रहित होना—प्रागभाव तथा प्रध्वसाभाव से मुक्त होकर रहना — नित्यता है। कयट ने शब्द की तरह अर्थ को भी जातिरूप मानकर उसकी नित्यता स्वीकार की है। अर्थ तो ब्रह्म ही है। शब्द भी ब्रह्म है। ब्रह्म ही स्वय वाचक है, तथा वाच्य है। इस प्रकार कयट ने इन पंक्तियो म शब्दाद्वैत सिद्धात का सकेत दिया है।

१२ भाष्यकार ने आरभ मे ही यह प्रश्न उठाया— गौरित्यत्र क शब्द ?' इसका उत्तर दिया— ये नोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिना सम्प्रत्ययो भवति स शब्द।' (पृ० १२) यहा भाष्यकार ने स्फोट शब्द का तो प्रयोग नही किया। किंतु उनका तात्पर्य यही है कि स्फोट अर्थ का वाचक है। कयट न व्याख्या की है—

'वैयाकरण वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति। वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादि वर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात। आनर्थक्ये तु प्रत्येक-मुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येन उत्पत्त्यभावात, अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैव अभिव्यक्त्या समुदायाभावात। एकस्मृत्युपारूढानां च वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्य-विशेषप्रसङ्गात। तद्व्यतिरिक्त स्फोटोनादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्य-पदीये व्यवस्थापित ।"

(भाष्यप्रदीप पृ० १२-१३)

"भाषा का स्वरूप"—इस अध्याय मे कैयट की उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या की जा चुकी है। कैयट ने स्पष्ट किया है कि यहा भाष्यकार ने 'स्फोट' का संकेत दिया है। स्फोट तो व्यंग्य है। "नादाभिव्यङ्ग्य।' इसका व्यंजक नाद ध्वनिरूप है। भाष्यकार ने दूसरा उत्तर यो दिया—

"अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते।"

(पृ० १४)

कैयट ने इसकी व्याख्या मे लिखा—

"अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वात इह अभेदेन व्यवहारेऽपि न दोष ।"

(भाष्यप्रदीप, पृ० १४)

इसी प्रसंग मे वर्णातिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा" कहकर कैयट ने अखंड पदस्फोट तथा अखंडवाक्यस्फोट का संकेत दिया है।

१३ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ। (१ १-५५) यह सूत्र स्थानिवद्भाव का विधान करता है। आदेश स्थानिवत स्यात। इस सूत्र पर विचार करते हुए कात्यायन ने कहा—'एक देश विकृतस्योपसंख्यानम।' (महाभाष्य, अष्टम आह्निक, १ १ ५८, पृ० ४३१) कात्यायन का विचार है कि 'पचतु' 'पचन्तु' इत्यादि मे "एरु' सूत्र से तिङ प्रत्यय के इकार के स्थान पर उकार विहित है। यह वर्ण के स्थान मे वर्ण का आदेश है। 'ति' एकवचन का प्रत्यय है। 'अन्ति' बहुवचन है। ये तो 'तिङ्' प्रत्याहार मे आते है। अत, 'पचति 'पचन्ति' इत्यादि 'लट लकार के रूपो को तिङन्त पद मान सकते हैं। किंतु 'लोट' मे इकार के स्थान मे उकार होता है। यहा 'ति' के स्थान मे तु का आदेश नही बताया। किंतु 'ति' प्रत्यय का एकदेश 'इ' उकार मे बदल गया—विकृत हुआ। अत यहा स्थानिवद्भाव से काम नही चल सकता। तो इस सूत्र मे 'एकदेशविकृत स्थानिवद् भवति —इस प्रकार उपसंख्यान (जोड़ना) करना चाहिए। नागेश ने लिखा है—"आनुमानिकेऽपि स्थानिवत्त्वप्रवृत्तिवक्तव्यति एतद्वार्त्तिकतात्पर्यम्।' (पृ० ४३१)

१३ १ एकदेश का विकार होने पर भी वस्तु का स्वरूप नही बदलता।

किसी कुत्ते की पूछ कट गयी या कान कट गया तो भी वह कुत्ता ही रहता है, उसे गधा या घोडा तो नही कहते। इसी प्रकार, 'ति' और 'अन्ति' में इकार या उकार होने पर भी इन प्रत्ययो का स्वरूप नही बदलता। अत स्थानिवद्भाव के बिना भी पदसंज्ञा सिद्ध हो सकती है। कात्यायन ने स्वयं यह परिहार सुझाया—"एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् सिद्धम्।" इस पर भाष्यकार ने कहा—"एकदेशविकृतमनन्यवद् भवतीति तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं भविष्यति। तद् यथा—श्वा कर्णे वा पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति, नाश्वो न गर्दभ इति।'

(महाभाष्य, वही, पृ० ४३१)

कयट ने भी यहा यह तर्क दिया है कि पूछ के कट जाने पर भी कुत्ते के अन्य अगो से 'श्वत्व' जाति व्यजित होती है। उसी प्रकार यहा इकार का विकार होने पर भी प्रत्यय का अवशिष्ट अश तकार व्यजित कर सकता है कि यह वही तिङ् प्रत्यय है। 'अपचत' में 'ति' के इकार का लोप ही हो गया है। 'अपचन्' में 'अन्ति' का तकार तथा इकार दोनो वर्ण लुप्त हो गए हैं। फिर भी प्रत्यय का अवशिष्ट अश हमे सूचना देता है कि यह वही 'तिङ्' प्रत्यय है। कैयट के शब्द हैं—

"छिन्नेऽपि पुच्छे शिष्टावयवसंनिवेश श्वत्वजातेरभिव्यञ्जक। एवं 'पचतु' इत्यत्र इकारस्य विकारेऽपि तकार तिङ्त्वस्य व्यञ्जक। तथा च, इकारलोपेऽपि अपचदिति तकारमात्रस्य तिङ्त्वमयप्रतोतिहेतुत्व चास्ति।"

(भाष्यप्रदीप, पृ० ४३१)

१३ २ इस पर वार्तिककार ने फिर आपत्ति उठायी कि एकदेशविकार को स्वीकार करें तो शब्दनित्यत्व का भंग प्रसक्त होगा। शब्दो की नित्यता सम्प्रतिपन्न है। नित्य शब्द में किसी प्रकार का विकार सभव नही है। अत 'एरु' का तात्पर्य यही मानना होगा कि इकारान्त प्रत्यय के स्थान में उकारान्त रूप का प्रयोग करना चाहिए। 'अनित्यविज्ञान तु तस्मादुपसंख्यानम्।" (पृ० ४३१) इस वार्तिक का आशय भाष्यकार ने बताया है—

"अनित्यविज्ञान तु भवति। नित्याः शब्दाः। नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभि। तत्र 'स एवायं, विकृतश्च' इत्येतत् नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते। तस्मादुपसंख्यानं कर्तव्यम्।"

(महाभाष्य, वही, पृ० ४३१)

'ति' प्रत्यय पुरुष तथा संख्या का बोधक है। 'तिप्तस्झि' इत्यादि सूत्र से विहित इस प्रत्यय की शक्ति (अर्थबोधकत्व) व्याकरण से गृहीत है। 'ति' के इकार को हटाकर उसके स्थान पर उकार का आदेश विधान करें तो एक वर्ण का अपाय तथा विकार मानना पडता है। यह नित्यत्व के विरुद्ध है। 'अपाय' का अर्थ है लोप। उपजन का अर्थ है किसी नये वर्ण का आगम, उत्पत्ति। विकार का अर्थ है आदेश। आदेश में स्थानी का अपाय तथा आदिश्यमान वर्ण का उपजन

सम्मिलित है। लोप, आगम और आदेश तीनो को विकार कह सकते हैं। इन विकारो को मान्यता देने का अर्थ है कि हम शब्द को अनित्य मानते है। शब्द नित्यतावादी तो विकार को स्वीकार नही करता। वह मानता है कि 'ति' के स्थान पर 'तु' का प्रयोग करना चाहिए। 'ति' और 'तु' दो शब्द हैं। व्याकरण यह बताता है कि कहा 'ति' का प्रयोग करना चाहिए और कहा 'तु' का। व्याकरण प्रयोग-व्यवस्था का वर्णन करता है। सूत्र म प्रत्यक्ष रूप से इकार के स्थान पर उकार का आदेश विहित है। किन्तु इसका गूढ तात्पर्य यही है कि इकारान्त प्रत्यय क स्थान पर उकारान्त रूप प्रयोक्तव्य है। इसे 'आनुमानिक आदेश' कहते है। वार्तिककार के प्रस्तावित उपसख्यान का परिणाम यही होता है कि प्रत्यक्षश्रुत तथा आनुमानिक दोनो प्रकार के आदेशो का स्थानिवत्त्व सिद्ध होता है। कयट ने इस बात को स्पष्ट किया है—

"अवस्थिते तकारे इकारस्य उकार इति अनित्यत्व शुन इव प्राप्नोतीति भाव। उपसख्याने तु क्रियमाणे नास्ति अनित्यत्वम। एतरिति स्थान्यादेशाभ्या तिशब्द तु शब्दयोरनुमीयमानत्वात ते प्रसक्ते तोर्विधानात। तत्र आदेशग्रहणाद्वा उप सख्यानाद्वा आनुमानिकस्याप्यादेशस्य स्थानिवद्भाव सिद्ध।"

(भाष्यप्रदीप, वही, पृ० ४३१)

१३ ३ कात्यायन की तरह भारद्वाजीय वार्तिककार ने भी स्थानी और आदेश की समस्या पर विचार किया है। उन्होने एक मूलभूत प्रश्न यह उठाया कि शब्द नित्य हैं तो किसी शब्द के स्थान म किसी शब्दान्तर के आदेश की कल्पना कैसे सगत होगी? 'अस्तेर्भू।' आर्धधातुक म 'अस' क स्थान मे 'भू' का आदेश विहित है। 'जराया जरसन्यतरस्याम।' 'जरा' शब्द के स्थान पर 'जरस' का आदेश विहित है। स्थानिवद्भाव का तो अर्थ इतना ही है कि आदेश स्थानी के समान काम करता है। स्थानी तिङ है तो आदेश भी तिङ है—बभूव। तिप के स्थान पर 'णल' आदेश हुआ। णल भी तिङ माना जाता है। रामाय। 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश हुआ। 'य' भी सुप है। 'सुपि च' राम के अकार का दीर्घ हुआ। यही तो स्थानिवत्त्व का लाभ है। किन्तु 'ङे' का 'य' म विपरिणाम तो विकार है। शब्दनित्यतावादी ऐसे विकारो की व्यवस्था को कैसे स्वीकार कर सकते हैं? उनका यह वार्तिक द्रष्टव्य है—

"अनुपपन्न स्थान्यादेशत्व नित्यत्वात।"

(महाभाष्य, १-१ ५५ पृ० ४३३)

भाष्यकार ने इसकी व्याख्या मे कहा कि स्थानी उसे कहते हैं जो पहले था और अब आदेश के कारण हट गया। आदेश उसे कहते है जो पहले नही था और अब उत्पन्न हुआ है। स्थानी नित्य नही है क्योकि वह विनष्ट हो जाता है। आदेश भी नित्य नही है क्योकि उसकी उत्पत्ति होती है। अत स्थान्यादेश की कल्पना

शब्दनित्यतावादी की दृष्टि से असंगत है। भाष्यकार ने इसका निराकरण किया है—

"स्थानी आदेश इत्येतत् नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते। किं कारणम्? नित्यत्वात्। स्थानी हि नाम यो भूत्वा न भवति। आदेशो हि नाम योऽभूत्वा भवति। एतच्च नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते यत् सतो नाम विनाशः स्यात्, असतो वा प्रादुर्भाव इति।"

(महाभाष्य, १-१ ५५ पृ० ४३३)

कैयट ने यहाँ पर लिखा कि जब एकदेशविकार में भी नित्यत्व की अनुपपत्ति बतायी जाती है तब तो पूरे शब्द को हटाकर उसके स्थान पर सर्वादेश के रूप में शब्दान्तर का विधान करने में अनुपपत्ति और प्रबल हो जाती है। आदेश आदि की कल्पना न करें तो व्याकरण का काम कैसे चल सकता है? आदेश को मानते हैं तो नित्यत्व का निर्वाह कैसे हो? कैयट का वाक्य है—

"एकदेशविकारेऽपि यत्र नित्यत्वहानिस्तत्र सर्वविकारे कुतो नित्यत्वम्, यत्र स्थयोऽपि कस्यचिन्नास्तीत्यर्थः।"

(भाष्यप्रदीप, वही पृ० ४३३)

नागेश ने यहाँ शास्त्रीय भाषा में नित्यत्व की व्याख्या की है। न्यायविद कहते हैं कि वर्तमान वस्तु का नाश होना 'प्रध्वंसाभाव' है। जो वस्तु आगे उत्पन्न होने वाली है अब उसका अभाव 'प्रागभाव' है। अनित्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति से पूर्व उनका 'प्रागभाव' रहता है। उत्पन्न होकर वे पदार्थ थोड़े समय के बाद नष्ट होते हैं। विनाश के बाद उनका 'प्रध्वंसाभाव' रहता है। नित्य पदार्थ सदा रहते हैं। अतः न उनका 'प्रागभाव' होता है, न 'प्रध्वंसाभाव'। यही नित्यत्व का लक्षण भाष्यकार को अभीष्ट है। नागेश ने 'नित्यत्व' का अर्थ यों बताया—

"यो भूत्वा इत्यादि भाष्यस्य प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वमिति तात्पर्यम्।"

(भाष्यप्रदीपोद्योत पृ० ४३३)

१३४ इस प्रश्न का समाधान भारद्वाजीय वार्त्तिककार ने यों किया है कि स्थानी को हटाकर आदेश की उत्पत्ति की कल्पना हमें मान्य नहीं है। स्थान का अर्थ है प्रसंग। लोक तथा वेद में इस अर्थ में 'स्थान' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। उपाध्याय के स्थान में शिष्य काम करता है। इस वाक्य का अर्थ क्या है? क्या हम समझते हैं कि उपाध्याय पहले ही आकर बैठे थे, शिष्य ने उन्हें हटाकर उनका स्थान स्वयं ग्रहण कर लिया? इस वाक्य का सरल अर्थ तो यही है कि उपाध्याय को आना चाहिए था किसी कारण से वे नहीं आये। उनके स्थान में आकर शिष्य उनका काम करता है। इसी प्रकार एक शब्द के प्रसंग में दूसरे शब्द का प्रयोग ही आदेश का तात्पर्य है। यहाँ स्थानी का विनाश और आदेश की

की व्याख्या करने से शब्दनित्यतावादी वैयाकरण की दृष्टि में स्थान्यादेशभाव की कल्पना में अनौचित्य की प्रसक्ति नहीं है। यही भाष्यकार ने कहा—

"एवमिहापि अस्तिरस्मा अविशेषेणोपदिष्ट । तस्य सर्वत्र अस्तिबुद्धिः प्रसक्ता। स 'अस्तेर्भूर्भवतो'ति अस्ति बुद्ध्या भवति बुद्धि प्रतिपद्यते।"

(महाभाष्य, वही, पृ० ४३४)

इस प्रसंग में भाष्यकार ने सिद्ध किया है कि व्याकरण में लोप आगम तथा आदेश का विधान शब्दसिद्धि का एक उपाय मात्र है। सुधी+उपास्य। ऐसा प्रयोग प्राप्त है। सुध्युपास्य। यही प्रयोग कर्तव्य है। वस्तुत ईकार को हटाकर उसके स्थान में यकार को नहीं लाते। इसी प्रकार क्विप्' आदि प्रत्यय भी कल्पित हैं। किसी वैयाकरण ने तृतीया एकवचन प्रत्यय का रूप 'आङ' बताया। पाणिनि ने ङित्व को आपत्तिजनक मानकर उसका रूप टा बताया। स्पष्ट है कि यह सब शास्त्रकार की कल्पना है। भाषा के स्वरूप का वर्णन करने के लिए ऐसी कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि लोपादि विकारों की कल्पना असत्य है आरोपित है। सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिने। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥" इस प्रकार भाष्यकार ने शब्द नित्यत्व की स्थापना की है। नित्य शब्द का नाम है 'स्फोट।

१४ तपरस्तत्कालस्य' (१ १-६६) सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने ध्वनि और स्फोट का अंतर स्पष्ट किया है। भाष्य के शब्द हैं—

"एवं तर्हि स्फोट शब्द। ध्वनि शब्द गुण। कथम? 'भेर्याघातवत।" तद्यथा भेर्याघातो भेरीमाहत्य कश्चिद विंशतिपदानि गच्छति, कश्चित त्रिंशत, कश्चिच्चत्वारिंशत। स्फोट च तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धि।"

(महाभाष्य, १ १ ६६, पृ० ५३१)

स्फोट ही शब्दतत्त्व है। ध्वनि स्फोट का गुण है। कयट ने कहा है कि गुण का अर्थ उपकारक है। ध्वनि को उपकारक क्यों कहते हैं? स्फोट स्वयं विद्यमान होकर भी अर्थप्रत्यायक नहीं हो सकता। ध्वनि से व्यंजित यानी प्रकाशित होने पर ही स्फोट अर्थबोधक बनता है। स्फोट की व्यंजना करना ही ध्वनि का उपकारकत्व अथवा गुणत्व है—'शब्दगुण इति। शब्दस्य गुण उपकारो व्यञ्जकत्वेनेत्यर्थ।' (कयट, पृ० ५३१) भाष्य में यहाँ जिस स्फोट की चर्चा की गयी है वह वर्णव्यक्तिस्फोट है। कयट ने इस बात को स्पष्ट किया—

"व्यक्तिस्फोटोऽत्र विवक्षित स च नित्य।"

(भाष्यप्रदीप, पृ० ५३१)

इस प्रकार भाष्य भाष्यप्रदीप उद्द्योत आदि ग्रंथों में प्रसंगानुसार स्फोट की व्याख्या की गयी है।

१५ इसी सूत्र की व्याख्या के अंत में भाष्यकार ने स्फोट और ध्वनि के

सवध म एक कारिका दी है—

ध्वनि स्फोट श्च शब्दाना,
ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यत।
अल्पो महाश्च केषाचि—
दुभय तत्स्वभावत ॥

(महाभाष्य, पृ० ५३१)

ध्वनि व्यजक है। स्फोट व्यग्य है। य श-द के दो प्रकार है। व्यजक ध्वनि म ही द्रुत मध्यम तथा विलवित वृत्ति के कारण अल्पत्व तथा महत्त्व का भेद लक्षित होता है। व्यग्य स्फोट म ऐसा कोई भेद नही है। "स्फोट तावानेव। ध्वनिकृता वृद्धि।' उदद्योतकार न इस ओर स्पष्ट किया है— विलम्बितादि-वत्तौ तु स्फोट एकजातीय एव।

(उदद्योत १ १ ६६, पृ० ५३१)

कयट न भी कहा है कि द्रुत आदि वत्तिया के कारण व्यजक ध्वनि म काल-भेद होन पर भी उसस व्यज्यमान स्फोट म कालभेद की सभावना नही रहती—"शब्दाना व्यड्ग्याना सवधी व्यञ्जकत्वन यो ध्वनि स एव महानल्प च लक्ष्यते। व्यग्यस्तु अभि-नकाल एवेत्यथ।'

(भाष्यप्रदीप, वही पृ० ५३१)

१६ दीक्षितजी न शब्दकौस्तुभ म स्फोट का निरूपण करते समय इस सिद्धा त को मा यता दी है कि वाक्य ही वाचक है। वाक्य के घटक या अवयव पद तथा उनके घटक वण वाचक नही हात। वस्तुत वाक्य वर्णातिरिक्त स्वतन्त्र पदाथ है। वाक्य ही वाचक है। इस सिद्धात का समथन करन के लिए दीक्षितजी न प्रश्न उठाया कि शब्द की शक्ति का ज्ञान किस उपाय स होता है? शब्द की शक्ति जब तक अज्ञात रहती है तब तक उससे श्राता का अथज्ञान नही हो सकता। हम किसी श-द का अथ नहीं जानते। शब्द तो साधक है वह अथ के प्रतिपादन म समर्थ है। कि-तु हम अथ का ज्ञान नही है ता शब्द को सुनन के बाद हम पूछेंगे—'इस शब्द का अथ क्या ह?' अत शब्दशक्ति ज्ञात होकर ही अथबोध म सहायक बन सकती ह। तो पहला प्रश्न यही आता है कि शक्ति ग्रह का उपाय क्या ह?

१६ १ शास्त्रकारो ने कोश, व्याकरण आदि को शक्तिग्रह क उपायो में स्थान दिया है। 'सिद्धान्तमुक्तावली' ग्रथ मे बताया है—

"शक्तिग्रह व्याकरणोपमान—
कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारत च।
वाक्यस्य शेषाद विवृतेवदन्ति,
सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा ॥'

इस कारिका म बताया गया है कि व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त वाक्य,

व्यवहार वाक्यशेष विवरण और सिद्धपद सान्निध्य—शक्तिग्रह के ये आठ साधन होते हैं। इनमें व्यवहार, कोश तथा व्याकरण—ये तीन साधन प्रमुख हैं। उपमान आदि अन्य गौण हैं। कोश और व्याकरण भी व्यवहार अथवा प्रयोग पर आधारित हैं। प्रयोगानुसारी होने पर ही कोश या व्याकरण को प्रामाणिक मान सकते हैं। प्रयोगमूलक होने के कारण ये दोनों परतन्त्र हैं। व्यवहार या प्रयोग ही शक्तिग्रह का एकमात्र स्वतन्त्र प्रमाण है। सभी शास्त्रकार एकमत होकर यह स्वीकार करते हैं कि व्यवहार ही शक्तिग्रह का प्रथम और मुख्य प्रमाण है।

१६ २ अब विचार करें कि बालक कैसे भाषा सीखता है? उसे शक्तिज्ञान किस उपाय से प्राप्त होता है? बालक अपने माता पिता आदि के भाषा व्यवहार से ही शक्तिज्ञान को प्राप्त करता है। एक ने कहा—'गामानय।' (गाय को लाओ।) दूसरा गाय को लाया। इस व्यवहार को देखकर बालक समझता है कि गामानय का यह अर्थ होता है। इसी प्रकार कई अन्य वाक्यों को बालक सुनता है और धीरे धीरे उसका भाषाज्ञान बढ़ता है। इसमें स्पष्ट है कि सर्वप्रथम बालक वाक्य से ही अर्थ को ग्रहण करता है। प्राथमिक शक्तिग्रह वाक्य के सन्दर्भ में ही होता है। अतः भाषा के अध्येता की दृष्टि से वाक्य ही वाचक है। न्याय आदि शास्त्रों के आचार्य कहते हैं कि हाँ, पहले तो हम पूरा वाक्य सुनकर उसी का अर्थ ग्रहण करते हैं। किंतु बाद में हम वाक्य के घटक पदों का तथा पदों के अन्तर्गत खंडों का भी ज्ञान होता है। पहले गामानय'—इस वाक्य को सुनकर विशिष्ट या अखंड रूप में अर्थ को ग्रहण किया। किंतु 'गां नय अश्वमानय गां बधान' आदि इस प्रकार के कई वाक्य सुनने को मिलते हैं। इनमें गाम नय आनय इत्यादि अंशों को पृथक इकाइयों के रूप में हम पहचानते हैं। कोश और व्याकरण से हम पदों के विश्लेषण में सहायता लेते हैं। पदों का पृथक्करण करने के बाद, व्यवहार के आधार पर ही, हम पदों का अर्थ भी निश्चित करते हैं। गामानय।' इस वाक्य में दो पद हैं। 'अश्वमानय। यहाँ पहले वाक्य का गाम' शब्द को छोड़ दिया गया। यह उद्वाप है। उसके स्थान में अश्वम —इस नये शब्द को लाये। यही आवाप है। ऐसे आवाप एवं उद्वाप की प्रक्रिया से पदों का पृथक करण तथा अर्थनिर्णय कर सकते हैं। व्याकरण से मालूम होता है कि गाम' 'अश्वम' आदि सुबन्त हैं और नय' बधान आदि तिङन्त रूप हैं। गाम, गव, गो" इत्यादि विविध रूपों की तुलना करने से हम प्रातिपदिक तथा विभक्ति का पृथक्करण करने में सहायता मिलती है। नैयायिक तो साधक रूप को पद मानते हैं। शक्तं पदम्। अतः प्रत्यय भी उनकी दृष्टि में पद ही है। वैयाकरण धातु और प्रातिपदिक को 'प्रकृति (stem) कहते हैं। सुबन्त या तिङन्त रूप को—प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय को—पद कहते हैं— 'सुप्तिङन्तं पदम्। किंतु प्रकृति साधक है। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। इस सूत्र से पाणिनि ने सकेत

दिया है कि उनके मत में धातु, प्रातिपदिक तथा प्रत्यय ये तीनों साधक हैं। साधक शब्दरूप को वे प्रातिपदिक मानते हैं। धातु तथा प्रत्यय भी साधक हैं, किंतु वे प्रातिपदिक नहीं हैं। अतः 'अधातु, अप्रत्यय" कहकर उनका निषेध किया। "कर्तरि कृत्" "नपुंसके भावे क्त" 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः', "भीमादयोऽपादाने', "चतुर्थी सम्प्रदाने" इत्यादि सूत्रों से विविध प्रत्ययों का अर्थ बताया गया है। इस प्रकार पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति बतायी जाती है। शक्तिग्रहपूर्वक भाषाज्ञान की इस प्रक्रिया को दीक्षितजी ने संक्षेप में दिखाया है—

"तथा च प्रथम व्युत्पत्ते व्यवहाराधीनतया संपूर्णस्य वाक्यस्य विशिष्टे प्राथमिक शक्तिग्रह इति निर्विवादम्। स च आवापोद्वापाभ्यामवयवानां शक्तिरिति न्यायोपष्टम्भेन त्यज्यते इति दर्शनान्तराणां पन्थाः।

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १५)

१६.३ 'दर्शनान्तराणां पन्थाः' कहकर दीक्षितजी ने स्पष्ट किया कि व्याकरण-दर्शन इससे सहमत नहीं है। वैयाकरण की दृष्टि में पद वाचक नहीं है। वाक्य ही वाचक है। अवयवों को—वाक्य के अवयव पद होते हैं तथा पदों के अवयव प्रकृति और प्रत्यय होते हैं—साधक या वाचक मानने में क्या आपत्ति है? "एकादेशादिस्थले उक्तरीत्या विनिगमनाविरहेण। इत्यादि, रमेश, हरेऽव" आदि में एकादेश हुआ है। सवर्ण दीर्घ, गुण, पूर्वरूप आदि को पूर्व तथा पर दोनों स्थानियों के स्थान में आने के कारण 'एकादेश' कहते हैं। स्थानी दो हैं, आदेश एक है। रमा+ईश=रमेश। 'आ' और 'ई' दो स्थानी हैं और आदेश एक है 'ए'कार। 'एकः पूर्वपरयोः।" यहां शंका होती है कि पद का विभाजन कैसे करें? "रमे" एक पद है, तो 'श' दूसरा पद होगा। अथवा 'रम' पहला पद है तो 'एश' दूसरा पद होगा। तो क्या नियामक है कि पद का यही रूप मानना चाहिए? इस कठिनाई से बचने का यही उपाय है कि 'रमेश' को एक साधक इकाई मानें और उसके अवयवों को निरर्थक कहें।

१६.४ हरे+अव=हरेऽव। पाणिनि ने कहा है कि पदान्त एङ् (ए, ओ) के बाद ह्रस्व अकार हो तो पूर्वरूप होता है। 'एङः पदान्तादति।" पूर्वरूप का अर्थ है एकादेश। एकार तथा अकार के स्थान पर एकार का आदेश मानते हैं।

किंतु दूसरे वैयाकरण व्याख्या कर सकते हैं कि यहां परवर्ती अकार का लोप हुआ है। इसी प्रकार पाणिनि ने कहीं पररूप का विधान किया है। 'एङि पररूपम्'। यहां पूर्वलोप की कल्पना की जा सकती है। 'सीमन्त केशवेश'। सीमा+अन्त=सीमन्त। स्त्री की मांग को 'सीमन्त' कहते हैं। सीमा के अन्त को 'सीमान्त' कहेंगे। यहां वार्तिककार ने पररूप माना। कोई पूर्वरूप का लोप कह सकता है। शब्द निष्पत्ति के कई प्रकार के उपाय हो सकते हैं। जो लोक व्यवहार में उपलब्ध है वही प्रामाणिक है। उसको लक्ष्य करके विभिन्न शास्त्रकार अन्

आदि की कल्पना करता है। काल्पनिक होने के कारण इसमें लाघव गौरव की चर्चा होती है। मतभेद भी प्रसक्त होते हैं। इस स्थिति में विशिष्ट वाक्य का रूप तो व्यवहारसिद्ध होने के कारण ग्राह्य है, उसके अवयव कल्पित होने के कारण प्रक्रिया की दृष्टि से स्वीकृत होकर भी पारमार्थिक दृष्टि में त्याज्य है। इसीलिए वैयाकरण दर्शन में वाक्य को ही वाचक मानकर पद आदि को असत्य कहा गया है। दीक्षितजी ने लिखा—

"एकादेशादिस्थले उक्तरीत्या विनिगमनाविरहेण, क्वचित पररूपादिस्थले पूर्वलोपाद्यभ्युपगमेन च व्याकरणानां कलहे सति अवयवशक्तेर्दुरुपपादतया प्राथमिकशक्तिग्रह एव प्रमाणत्व इति तु सद्धान्तिक पन्था।"

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १४)

१६.५ इस विषय में आचार्य भर्तृहरि की सम्मति प्राप्त है। उन्होंने एक प्रसंग में कहा है कि वैयाकरणों में मतभेद पाया जाता है—

"तत्र यत् मुख्यमेकेषां
तत्र तेषां विपर्ययः।"

अन्यत्र उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वाक्य के घटक पद स्वयं तो निरर्थक ही होते हैं और वाक्य ही विशिष्ट अर्थ का वाचक होता है। समास में एकार्थीभाव को सब वैयाकरण स्वीकार करते हैं। समास के अवयव अपने अर्थ को छोड़कर विशिष्टार्थप्रतीति के उपकरण मात्र रह जाते हैं, इसी प्रकार वाक्य के पद भी वाक्यार्थप्रतीति के उपकरण मात्र हैं, उनका कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं होता—

"ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति
कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये
तथैव स्युरनर्थकाः॥"

(भर्तृहरि के शब्द, शब्दकौस्तुभ में उद्धृत)

तो फिर पाणिनि ने प्रातिपदिक को 'अर्थवत्' कैसे कहा? कर्तरि कृत आदि सूत्रों में प्रत्ययों का अर्थ निर्देश किस आधार पर किया? धातु का अर्थ कुछ होता है, उपसर्ग के योग से अर्थान्तर की प्रतीति होती है। इस व्यवस्था को कैसे स्वीकार करें? उपसर्ग वाचक हैं या द्योतक हैं? धातु के अर्थ को स्पष्ट करना ही तो द्योतकत्व है। इसका तात्पर्य हुआ कि उपसर्ग का अपना कोई अर्थ नहीं है। वैयाकरणों की मान्यता है— 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहार-संहारविहारपरिहारवत्।' वास्तव में 'प्रहार' आदि शब्दों में यह बताना कठिन है कि उपसर्ग का अर्थ कितना है और धातु का कितना? दीक्षितजी का कथन है कि यह सारा विचार प्रक्रिया-दशा में रूपसाधुत्व की व्याख्या के लिए उपयोगी हो तो ग्राह्य है, अन्यथा, वाक्य ही सार्थक है, पद आदि निरर्थक हैं। अतः यह

विचार भी व्यर्थ ही माना जाएगा। भर्तृहरि का प्रमाण देकर दीक्षितजी ने अपने मत को प्रस्तुत किया—

'एवं स्थिते निपाता द्योतका विकरणा अनर्थका इत्यादिविचारोऽपि प्रक्रियादशायामेव। आह च—

"अडादीनां व्यवस्थार्थं
पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे
धातुरेव तु तादृशः॥"

इति। तादृशः अखण्ड इत्यर्थः॥

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १५)

१६.६.१ धातु और उपसर्ग को पृथक् इकाइयों के रूप में विभाजित करने का एक प्रयोजन है 'अट्' आदि की व्यवस्था का निर्वाह। 'अट्' एक आगम है। टकार इत् है। टित्त्व से ज्ञात होता है कि यह धातु का आदि अवयव बनकर जुड़ता है—'आद्यन्तौ टकितौ।' लुङ्, लङ् तथा लृङ्—इन तीन लकारों में अडागम विहित है। लुङ्—अभूत। लङ्—अभवत। लृङ्—अभविष्यत। धातु अजादि हो तो 'आट्' आगम होता है—'लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः। आडजादीनाम्।' ऋच्छति—आर्च्छत। ईक्षते—ऐक्षत। अस्ति—आसीत। किंतु जब धातु के साथ उपसर्ग का प्रयोग होता है तब ये आगम धातु से पूर्व—उपसर्ग के बाद—जुड़ते हैं। अनुभवति—अन्वभवत। प्रतीक्षते—प्रत्यैक्षत। प्ररोहति—प्रारोहत। 'अट्' आदि की ऐसी व्यवस्था बताने के लिए—प्रक्रिया निर्वाह की दृष्टि से—धातु और उपसर्ग को अलग करना अपेक्षित है। यदि उपसर्गसहित क्रियारूप को धातु मान लेते हैं, तो द्वित्व में भी दोष प्रसक्त होगा। भू धातु का लिट् लकार में रूप है—बभूव। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य।' इससे धातु का द्वित्व हुआ। 'अनु' के साथ 'भू' का प्रयोग करें, तो द्वित्व किस अंश का होगा? "अनुभू" को धातु मानते हैं, तो नु शब्द का द्वित्व प्रसक्त है—"एकाचो द्वे प्रथमस्य। अजादेर्द्वितीयस्य।"

यह तो अनिष्ट रूप है। अतः 'अनु' उपसर्ग को पृथक् करके 'भू' मात्र को धातु कहते हैं। तब द्वित्व की व्यवस्था ठीक होगी—'अनुबभूव।' इस प्रकार प्रक्रिया (रूपनिष्पत्ति) के निर्वाह के लिए उपसर्ग को काटकर धातु से अलग करना पड़ता है—"प्रादयः। उपसर्गाः क्रियायोगे। ते प्राग्धातोः।" भर्तृहरि का प्रमाण मानकर दीक्षितजी ने कहा है कि अखंड वाक्य को स्वीकार करनेवाले वैयाकरण के लिए भी प्रक्रिया की दृष्टि से ऐसे भेदों की कल्पना करनी पड़ती है। किंतु ये कल्पित भेद वाक्य की पारमार्थिक अखंडता में बाधक नहीं हो सकते।

१६.७ पाणिनि ने अष्टाध्यायी में सैद्धांतिक चर्चा से बचकर प्रायोगिक

उन्होंने सैद्धांतिक चर्चा भी की 'तदशिष्यं संज्ञा प्रमाणत्वात्। लुब्योगाप्रख्यानात्। योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्। प्रधान प्रत्ययार्थवचनमर्थस्या यप्रमाणत्वात्।" इन सूत्रों में पाणिनि ने 'जनपदे लुप्' 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने'—इन सूत्रों से उक्त व्युत्पत्ति की प्रक्रिया का निराकरण किया है। लुप् का विधान व्युत्पत्ति की दृष्टि से अपेक्षित है या नहीं—यह विषय यहां अप्रकृत है। किंतु पाणिनि का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि अर्थ का विचार अन्य प्रमाण—लोकव्यवहार आदि से—ग्रहण करना चाहिए। कुछ वैयाकरण कहते हैं कि प्रत्ययार्थ प्रधान या विशेष्य होता है और प्रकृत्यर्थ उसमें विशेषण बनकर अन्वित होता है। पाणिनि कहते हैं कि व्याकरण में इसकी चर्चा करना अपेक्षित नहीं है। 'व्युत्पत्तिवाद' आदि ग्रंथों में विभक्त्यर्थ, लकारार्थ आदि को लेकर शाब्दबोध की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन किया गया है। 'नामार्थयोरभेद नवान्वय।" 'प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थे विशेषणम्।' ऐसी कुछ मान्यताओं के आधार पर शाब्दबोध प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। पाणिनि ने इसमें अपनी अनास्था दिखाई। भर्तृहरि ने भी इस प्रकार के विचार को व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी होने पर भी अखंड वाक्य की दृष्टि से अनपेक्षित ही माना। अतः दीक्षितजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह सारा विचार प्रक्रिया निर्वाह की दृष्टि से तो ठीक लगता है, किंतु पारमार्थिक नहीं है। वाक्य तो विशिष्ट रूप से वाक्यार्थ का वाचक है उसमें अवान्तर भेदों की कल्पना के लिए गुंजाइश नहीं है। उनका कथन है—

'एवं च नामार्थयोरभेद एव संसर्गः। प्रत्ययार्थः प्रधानम्।" इत्यादि व्युत्पत्तयोपि प्रक्रिया श्रया एव। उक्तं च—

किमभज्ये किमभ
कीदग् भातीति नो मते।
विचार फलितं सर्व
प्रकृतिप्रत्ययाश्रयं ॥" इति।

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १५)

१६ ८ यदि यह सारा विचार व्यावहारिक मात्र है और इसे पारमार्थिक नहीं मानते, तो यह प्रश्न उठता है कि ऐसी कल्पना क्यों की जाती है? आरोपित या काल्पनिक बातों से सत्य की उपलब्धि कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यही है कि असत्य भी सत्य तक पहुँचने का उपाय हो सकता है। लिपि का ध्वनि से क्या संबंध है? हमने अपनी सुविधा के लिए ककार आदि ध्वनियों के चिह्न बना लिये और ग्रंथों में उन लिपि संकेतों का उपयोग करते चले आ रहे हैं। संस्कृत भाषा के ग्रंथ रोमन, तेलुगु आदि कई लिपियों में मुद्रित और प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार अरुंधती नक्षत्र दिखाने की परम्परा है। वृक्ष की शाखा में चंद्र को दिखाते हैं। ये सब असत्य उपाय से सत्य तक पहुँचने के उदाहरण हैं। इसी प्रकार

या व्यावहारिक पक्ष पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया है। किंतु सिर्फ एक स्थल मे पद आदि की कल्पना भी वाक्य को समझने का उपाय है। दीक्षितजी के ये शब्द हैं—

"आरोपितस्यापि पारमार्थिके उपायता न विरुद्धा, लिपि स्थूलारुन्धती—शाखाचन्द्रादीना लौकिकदृष्टान्तानाम अर्थवादवाक्यपञ्चकोशावतरणादीना शास्त्रान्तरसिद्धानां, पूर्वयासिद्धादीना च एतच्छास्त्रसिद्धाना प्रागेव दर्शितत्वात।"

(शब्दकौस्तुभ, पृ० १५)

१७ अत यह सिद्ध है कि स्फोट ही वस्तुत वाचक है। यह भी व्यक्ति स्फोट न होकर जातिस्फोट है। वस्तुत यह जाति ब्रह्म स्वरूप है। भर्तृहरि के तीन श्लोको को दीक्षितजी ने यहाँ प्रमाण के रूप म उद्धृत किया है। व श्लोक हैं—

(१) अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या
जाति स्फोट इति स्मृता।
कश्चिद व्यक्तय एवास्या
ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ॥

(२) सम्बन्धिभेदात सत्तव
भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्या
सर्वे शब्दा व्यवस्थिता ॥

(३) ता प्रातिपदिकार्थ च
धात्वर्थ च प्रचक्षते।
सा नित्या सा महानात्मा
तामाहुस्त्वतलादय ॥"

पहली कारिका म भर्तृहरि न कहा कि जाति को हम स्फोट कहते हैं। यह जातिवाचक है शब्द है। व्यक्ति को वाचक मानन पर कई प्रकार की अनुपपत्तिया सामन आती हैं। जाति तो नित्य है एक है तथा समस्त व्यक्तियो का अनुगम करने का एक साधन है। व्यक्ति व्यजक है। कुछ शास्त्रकारो न 'ध्वनि' की सज्ञा इन व्यक्तियो को दी है। टीकाकारो न कहा है—

अर्थगतजाते शक्यत्वमिव शब्दगतजाते वाचकत्वमिति भाव" यही वोपदेव का भी मत था—"शक्यत्व इव वाचकत्वे जातेर्लाघवमीक्ष्यताम्।"

दूसरी कारिका मे विचार किया गया है कि यह स्फोटवाच्य जाति क्या है? नैयायिक तो घटत्व, गोत्व आदि असख्य जातियो को मानत हैं। भर्तृहरि का कथन है कि सत्ता एक ही सर्वव्यापी जाति है। आश्रय या सबधी पदार्थ के भेद से इस सत्ता के भी भेद प्रतीत होते हैं। गोत्व जाति का अर्थ है गोनिष्ठ सत्ता। अत सभी

शब्दों का एक ही अर्थ बनता है—सत्ता। यह वेदान्त सिद्धान्त में उक्त 'ब्रह्म' का स्वरूप है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानाऽस्ति किंचन। आत्मा वा इदं सर्वम्। वही ब्रह्मतत्त्व स्फोट के रूप में वाचक है और जाति के रूप में वाच्य है।

तीसरी कारिका में इस बात का दृढ़ीकरण किया गया है। वह जाति नित्य है, अविकारी तथा अविनाशी है, अनादि और अनन्त है। 'सा महानात्मा'। वही ब्रह्म है। त्व, तल आदि प्रत्ययों में उसी परम तत्त्व का प्रतिपादन होता है। 'तस्य भावस्त्वतलौ।' 'सत्ता गोत्व, द्रव्यत्वम्' आदि शब्द भावप्रत्ययान्त हैं। ये जाति-रूप अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार भर्तृहरि ने स्फोट सिद्धान्त का निरूपण किया है।

१८ इस बात को दीक्षितजी ने प्रकारान्तर से भी स्पष्ट किया। ध्वनि स्फोटवादी के सामने यह कठिनाई उपस्थित होती है कि 'सर' और 'रस' से भिन्न अर्थों की प्रतीति कैसे होती है। वर्णक्रम को भी वाचक कोटि में स्थान देकर यह कहना होगा कि इस क्रम में संनिविष्ट वर्णों से इस अर्थ का बोध होता है। 'घट' शब्द में पहले 'घ' आता है और बाद में 'ट'। इसलिए यह व्यवस्था देनी होगी कि "घोत्तरटत्वं शक्ततावच्छेदकम्।" यह एक 'उपाधि' है। उपाधि को स्वीकार न करें तो भिन्नानुपूर्वीक शब्दों में अर्थभेद की उपपत्ति नहीं हो सकती। 'उपाधि' क्या है? वह तो अन्ततोगत्वा जातिस्वरूप है। जातियों का स्वरूपविवेचन करने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि जाति ब्रह्म ही है जो सर्वाधिष्ठान है। कुछ शास्त्रकार अविद्या को जाति कहते हैं। इसी जाति को वैयाकरण स्फोट मानते हैं। यही वाचक है। दीक्षितजी ने कहा—

"जाति स्फोटवादिनस्तु घोत्तरटत्वादिकं शक्ततावच्छेदकतया आद्यपक्षद्वयेऽपि यथायथं वाच्यम्। अन्यथा सरोरसइत्यादौ अर्थ विशेषप्रतीत्यनापत्तेः। तच्च उपाधिरूपम्। उपाधिं च परम्परासंबद्धा जातिरेव। सा च सर्वाधिष्ठानं ब्रह्म स्वरूपात्मिका। तथा च शक्यांश इव शक्तांशेऽपि न्यायसाम्येन आकृत्यधिकरणरीत्या ब्रह्मतत्त्वमेव तत्तदुपहितं वाच्यं वाचकं च। अविद्या, आविद्यकधर्मविशेषो वा जातिरिति पक्षे तु सर्वं वाचिकाऽस्तु इत्याहुः।"

(शब्दकौस्तुभ पृ० १४)

दीक्षितजी ने कहा है कि इस प्रकार हम शब्द तथा अर्थ पर विचार करने की प्रक्रिया में ब्रह्मतत्त्व की ओर अग्रसर होने लगे। हम तो वैयाकरण हैं। हमारा मुख्य विवेच्य विषय है शब्द। किंतु शब्द के द्वारा हम ब्रह्म तक पहुंच सकते हैं। वासिष्ठ रामायण में एक आभाणक (लोकोक्ति) का उल्लेख है कि कौड़ी को खोजने के प्रयास में चिन्तामणि (अभीष्ट की पूर्ति करने वाला एक अनर्घ्य रत्न) की प्राप्ति हुई। किसी का एक पैसा जेब से गिर गया। वह उसे इधर उधर खोजने लगा। भाग्य से उसको एक अमूल्य निधि की प्राप्ति हो गयी। इसी प्रकार हम

शब्दविचार म लगे हुए हैं। हम इसम ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। जिज्ञासुओ के परम लाभ के लिए भत हरि न वाक्यपदीय म, ब्रह्मकाड मे विवतवाद आदि का निरूपण करके शब्दब्रह्म' का प्रतिपादन किया है। दीक्षितजी न श्रद्धापूवक इस मत का स्वीकार तो किया। किंतु व्याकरण मे इस मत की विशेष उपयोगिता नही है। अत शब्दकौस्तुभ म इस चचा का उन्होन सक्षेप मे समाप्त कर दिया। उनके शब्द हैं—

'तदेव वराटिकान्वेषणाय प्रवत्त चिन्तामणि लब्धवानिति यासिष्ठराभाय-णोक्ता भाणकन्यायेन शब्दविचाराय प्रवत्त सन प्रसङ्गात अद्वते औपनिषदे ब्रह्मण्यपि व्युत्पद्यतामित्यभिप्रायेण भगवान भत हरि विवतवादादिकमपि प्रसङ्गाद व्युदपादयत। तत्तु तन्त्रान्तरे स्फुट प्रकृते नातीवोपयुक्त चेति नेह नान्यते।"

(शब्दकौस्तुभ पृ० १५)

१६ नयायिको न स्फोटवाद का खडन किया है। उनकी दष्टि म स्फोट की कल्पना निर्मूल और निरथक है। वर्णों का समूह पद है तथा पदों का समूह वाक्य है। क्रमविशेष म अवस्थित वण ही पद बनकर अथ के वाचक होते है। यह सत्य है कि ध्वनि आशुविनाशी है। किन्तु किसी पद का जब वक्ता उच्चारण करता है तब श्रोता एक एक करके उन वर्णों का सुनता है। यह श्रावण प्रत्यक्ष है एक 'अनुभव' है। अनुभव स संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कार स स्मृति' होती है। काल व्यवधान के कारण संस्कार के क्षीण या दुबल होने पर विस्मृति भी हो सकती है। किंतु वक्ता बोल रहा है और श्रोता ध्यान मे सुन रहा है तो पूर्वोच्चारित वर्णों का नाश होन पर भी स्मरण अवश्य होता है। अन्तिम वण का श्रवण तथा पूव वर्णों का स्मरण साथ साथ होन से शब्द के द्वारा अथग्रहण करन म कोई कठिनाई नही रहती। पूव वण स्मरणसहकृतचरमवण श्रवणस्य अथबोधहेतुत्वात।" लोकानुभव इस बात का प्रमाण है। किसी शब्द के एकाध वण ठीक सुनाई नही दिये तो अथज्ञान मे बाधा उपस्थित होती है और श्रोता पूछता है कि आप ने क्या कहा? वण तो उच्चरित प्रध्वसी हैं। फिर भी उनका बौद्धिक समुदाय बन सकता है। सौ, हजार आदि सख्याओ का ज्ञान अपेक्षाबुद्धि स ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार नारायण, आतिरूप आदि अनेकाक्षर शब्दो म समुदाय की निष्पत्ति हो सकती है। वाक्य मे भी कई पद होते है। वहा भी पूर्वोच्चारित पदो क स्मरण मे वाक्यरूप समुदाय की निष्पत्ति मानना उचित है। और ध्वनि स भिन्न शब्द की सत्ता के लिए कौन सा प्रमाण है? शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य हैं। श्रोत्रेन्द्रिय स ध्वनि का ग्रहण होता है। स्फोट का तो ग्रहण किसी ने आज तक नही किया। अत प्रमाणरहित स्फोट की कल्पना वथा है। इसे शब्द ब्रह्म कहना श्रद्धा की बात हो सकती है, किंतु वितक की बात नही है।

२० वैयाकरणो ने कहा कि स्फोट व्यङ्ग्य है और ध्वनि व्यञ्जक है।

नैयायिक आक्षेप करते है। उनका प्रश्न है कि किसी पद के सभी वर्ण मिलकर स्फोट की व्यंजना करते है या एक एक वर्ण स्वयं स्फोट का व्यंजक है ? यदि कहा जाय कि सभी वर्ण मिलकर—समुदाय के रूप में स्थित होकर—स्फोट की व्यंजना करते हैं, तो यह समुदाय कैसे बन पाया ? मिलकर जो वर्ण व्यंजक होते हैं, वे मिलकर वाचक क्यों नहीं हो सकते ? यदि एक वर्ण से ही स्फोट की व्यंजना मानी जाती है तो उस पद के अन्य वर्णों का उच्चारण व्यर्थ होगा। वाचकत्व के पक्ष में जो आपत्तियाँ वैयाकरणों की ओर से उठायी जाती हैं वे सब आपत्तियाँ व्यंजकत्व के पक्ष में भी उठायी जा सकती हैं। अतः वर्णसमुदाय को वाचक मानना ही यथोचित है। वर्णातिरिक्त पद क्या है ? पदातिरिक्त वाक्य क्या है ? यह निर्मूल कल्पना है, प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इस प्रकार नैयायिकों ने स्फोट का निराकरण किया है।

२१ आलंकारिकों में भामह ने अपने काव्यालंकार में स्फोट का खंडन किया है— शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्। शब्दों का अर्थ सांकेतिक है। इतने वर्ण इस क्रम में अवस्थित होकर इस अर्थ का अभिधान करते हैं—यह तो परम्परा या समय (संकेत) से ही सिद्ध होता है— 'इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायकाः। व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः ॥' अतः संकेतसिद्ध अर्थ के अभिधान में समर्थ वर्णसमुदायात्मक शब्दों से ही अर्थप्रतीति होती है। इस स्थिति में स्फोट की कल्पना निर्हेतुक भी है, तथा निष्फल भी। भामह ने खूब तर्क देकर स्फोट का प्रत्याख्यान किया। दंडी आदि कुछ आचार्यों ने इस विषय में कोई रुचि नहीं दिखायी। आनंदवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना की, इसलिए उन्हें व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेना पड़ा। नैयायिक तो व्यञ्जना को अतिरिक्त शब्द-शक्ति के रूप में नहीं मानते। वैयाकरण ध्वनि को व्यंजक तथा स्फोट को व्यंग्य कहते है। अर्थात् वैयाकरणों ने व्यञ्जना को मान्यता दी है। इस कारण से आनंदवर्धन ने "प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः" आदि कहकर वैयाकरणों की प्रशंसा की। किंतु उन्होंने ध्वनिवादी होकर भी ध्वन्यालोक में स्फोट का प्रतिपादन नहीं किया। आनंदवर्धन का अनुकरण करते हुए मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश' में व्यंग्य तथा व्यंजक दो प्रकार के शब्दों की चर्चा की है। मम्मट का वाक्य है—

'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।'

किंतु अलंकारशास्त्र के अन्य आचार्यों ने स्फोटविचार की उपेक्षा ही की है। निष्कर्ष यही है कि केवल व्याकरणसंप्रदाय में स्फोट को मान्यता प्राप्त हुई है। किंतु यह सत्य है कि यह स्फोटसिद्धान्त अत्यंत प्राचीन है स्फोटायन आदि आचार्यों की परम्परा से प्राप्त इस सिद्धान्त का अत्यंत प्रामाणिक विवेचन भर्तृहरि ने किया। यह शब्दाद्वैतवाद अथवा 'शब्दब्रह्मवाद' में विकसित हुआ।

चतुर्थ अध्याय

शब्द के भेद

१ ऋग्वेद में कहा गया है कि 'वाक्' या भाषा के चार भेद होते हैं। विद्वान इन चारों का तत्त्व जानते हैं। इनमें से तीन गुहा में निहित हैं। केवल चतुर्थ भेद को ही मनुष्य काम में लाते हैं। मंत्र निम्न प्रकार है—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥"

(ऋग्वेद, १ १४६ ४५)

'चत्वारि' के प्रतीक को लेकर पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में इस मंत्र की व्याख्या की है। महाभाष्य की पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग-निपाताश्च। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते। न निमिषन्तीत्यर्थः। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं ह वा एतद् वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते, चतुर्थमित्यर्थः।"

(महाभाष्य, पृ० ३२)

१ १ मंत्र में 'वाक्परिमिता' को नागेश ने षष्ठी तत्पुरुष समास कहा है। प्रथम पाद का यह अर्थ निकलता है कि वाक् में चार प्रकार के पद होते हैं। ये पद क्या हैं? भाष्यकार ने बताया कि ये नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं। 'पदजातानि' में 'जात' शब्द का अर्थ सजातीय समूह है। ये चार शब्दभेद (Parts of Speech) हैं। कैयट ने 'परिमिता' की व्याख्या में कहा है कि शब्द भेद इतने ही—चार ही—हैं, अधिक नहीं। परिमितानि परिच्छिन्नानि—एतावन्ति एवेत्यर्थः।'

(भाष्यप्रदीप, पृ० ३२)

१२ 'मनीषी' शब्द ज्ञानी का पर्याय है। भाष्यकार ने इसकी व्युत्पत्ति बतायी—'मनस ईषिणो मनीषिण ।" "मनस्+ईषिन्" म सकार का रुत्व, यत्व और लोप (लोप शाकल्यस्य) करने के बाद "मन ईषिन" यह रूप प्राप्त है। 'मनीषिन'—यह रूप कैसे बना ? कैयट कहते हैं कि यह शब्द पृषोदरादि गण म द्रष्टव्य है। पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम ।" कयट न लिखा—"मनीषिशब्द पृषोदरादित्वात साधु ।' पृषोदरादि आकृतिगण हैं। अत इस शब्द को भी उस गण म सम्मिलित कर लेना सभव है। किंतु पररूप प्रकरण मे वार्त्तिककार ने कहा— शक न्ध्वादिषु पररूप वाच्यम ।' शकन्ध्वादि गण म 'मनीषा' शब्द पठित है। मनीषा एषामस्तीति मनीषिण । जो मन को वश म करते है तथा विषयान्तर से निवृत्त करके भाषा के विवेचन म लगाते है ऐसे वैयाकरणों को यहा मनीषी' कहा गया है। ऐसे वयाकरण ही भाषा क चारो पदो को अच्छी तरह जानते है।

१३ जिन्होने व्याकरण का अध्ययन नही किया, व भाषा के रहस्य का नही जान सकते। अज्ञान को ही इस मन्त्र म 'गुहा' कहा गया है। 'अज्ञानमेव गुहा तस्यामित्यथ ।" (कैयट) किंतु व्याकरण के अध्येता के सामन भाषा का रहस्य खुल जाता है। एक अन्य मन्त्र म भी यही भाव व्यक्त किया गया है— उतो त्वस्मै त व विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा ।' कैयट ने यही भाव बताया है कि अज्ञानी के लिए भाषा का एक अत्यल्प अश—चतुर्थांश—ही व्यवहारोपयोगी बन सकता है। वह भाषा का पूण उपयोग नही कर सकता। विद्वान तो व्याकरण की सहायता से भाषा का पूण ज्ञान प्राप्त कर लता है। उसके लिए कुछ भी गुहा म निहित नही है, अज्ञात या अनुपयोगी नही है। व्याकरण नामक एक प्रदीप हाथ म लेकर वह भाषा के रहस्यो का अन्वेषण करता है और पूण रूप से भाषा को जान कर उसका प्रयोग भी कर सकता है। कयट न लिखा—'व्याकरणप्रदीपेन तु तानि प्रकाशन्ते। तत्र चतुर्णां पदजातानामेककस्य चतुथभाग मनुष्या अवयाकरणा वदन्ति।"

(भाष्यप्रदीप पृ० ३२)

१४ नागेश न चत्वारि पदानि की व्याख्या दो प्रकार से की है। उनका कहना है कि चार शब्द भेदो को यहा 'चार पद कहा है। साथ ही वाक के चार भेद—परा, पश्यन्ती मध्यमा और वखरी—भी यहाँ विवक्षित हैं। ये दोनो अथ भाष्यसम्मत हैं। भाष्यकार न 'पदजातानि' का अथ स्पष्ट करते हुए कहा—नामाख्यातोपसगनिपाताश्च। इससे पूव भाष्यकार न एक और ऋचा की व्याख्या म भी 'चत्वारि का यही अथ इ ही शब्दो म बताया है। 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा । यहाँ भाष्यकार ने कहा— चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसगनिपाताश्च ।' (पृ० ३०) दोनो स्थानो म भाष्यकार ने चकार का प्रयोग किया है। यह चकार अनुक्तसमुच्चयाथक है। नाम, आख्यात, उपसग और

निपात का समुच्चय बताने के लिए इस चकार की आवश्यकता नही है। यह तो इतरेतरयोग द्वद्व समास है, समास से ही समुच्चय का बोध होता है। व्यस्त प्रयोग करें ता पदार्थो २ा समुच्चय बताने के लिए चकार का प्रयोग अपेक्षित होगा। गुरु च शिष्य च आगच्छत। समास करें तो चकार क बिना भी समास से ही समुच्चय का बोध हो जाता है—गुरुशिष्यौ आगच्छत। समास के बाद समुच्चयार्थक चकार का प्रयोग नही होता। यदि भाष्यकार यहाँ नाम और आख्यात को एक वग म तथा उपसग और निपात को दूसरे वग म मानकर दो द्विपद द्वद्व करत, तो चकार का प्रयोग इन दो वर्गो के समुच्चय के लिए सार्थक होता। "नामा ख्यात च उपसगनिपातो च।" एसा प्रयोग उचित होता। लेकिन भाष्यकार न एक ही चतुष्पद द्वद्व का प्रयोग किया है— नामाख्यातोपसगनिपाता।' इसक बाद 'च शब्द आया है। अत स्पष्ट है कि यह चकार अनुक्तसमुच्चयार्थक है। इस चकार स परा आदि चार भेदो का ग्रहण अभीष्ट है। नागश न चत्वारि शृङ्गा की व्याख्या म यह आशय प्रकट किया— पदजातानि। परा—पश्यन्ती—मध्यमा—वैखरी रूपाणि। अत एवाग्रे निपाता चेति चकार सगच्छत।'

(भाष्यप्रदीपोद्द्योत, पृ० ३१)

१५ वैखरी आदि भेदो का निरूपण करत हुए नागश न कहा है कि श्रोत्रग्राह्य रूप वैखरी' है। हृदयदश म रहन वाली वाक को मध्यमा कहते हैं। यह व्यवहार का कारण या साधन है। लोकव्यवहारातीत जा वाणी का रूप है 'पश्यन्ती। इस रूप को योगिप्रत्यक्षगम्य मानते है। साधारण मनुष्य पश्यन्ती का व्यवहार नही करते। किंतु योगी अपन यागबल से पश्यन्ती म भी प्रकृति और प्रत्यय का विभाग कर सकते हैं। परा' तो इन तीनो के स्तर से ऊपर की वाक् है। इसे शब्दब्रह्म' भी कहते हैं। परा म किसी प्रकार का विभाग नही हो सकता। नागश न अपन मत को इन शब्दो म स्पष्ट किया है—

"तत्र श्रोत्रविषया वखरी। मध्यमा हृदयदेशस्था पदप्रत्यक्षानुपपत्त्याव्यवहार-कारणम। पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता। योगिना तु तत्रापि प्रकृतिप्रत्ययविभागा वगतिरस्ति। परायां तु न।"

(उद्द्योत पृ० ३३)

१६ नागेश ने स्वीकार किया कि यह मत भत हरि क वचन पर आधारित है। हरि न वाक्यपदीय म लिखा है—

"वखर्या मध्यमायाः च
पश्यन्त्या चतदद्भुतम।
अनेक तीथ भेदाया
त्रय्या वाच पर पदम॥"

(ब्रह्मकाड कारिका १४३)

हरि का कहना है कि व्याकरण शास्त्र 'त्रयी वाक्' का स्वरूप स्पष्ट करता है। 'परा' मे प्रकृति प्रत्यय विभाग की कल्पना सभव नही है। अत इस कारिका म 'परा' का उल्लख नही है। किंतु हरि ने अयत्र 'परा' का भा उल्लेख किया और कहा है कि वह स्वयप्रकाश है उसका कदापि अपाय नही होता। विकार एव विनाश स मुक्त वह शब्द नित्य है—

"स्वरपज्योतिरेवात
परा वागनपायिनी।
तस्या दृष्टस्वरूपाया—
मधिकारो निवलते॥"

(उद्योत म, पृ० ३३ म उद्धत)

इस उद्धरण स स्पष्ट है कि भत हरि 'परा' को भी एक भेद क रूप म मानते थे। किंतु अविभाग यानी अखड होन के कारण उस व्याकरण का विषय नही मानते थे। त्रयी वाक ता याकरण का विषय है। पश्यन्ती केवल योगियो के लिए ज्ञान का विषय है, मध्यमा और वैखरी समस्त मानवा के व्यवहार की वस्तु है, मध्यमा श्रोत्रग्राह्य नही है वह ता वक्ता की बुद्धि का विषय है। वक्ता स उच्चायमाण तथा श्राता स गह्यमाण वाक ही वैखरी है। अत 'तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति' —यह श्रुति का वचन सगतार्थक है। नागेश न इस प्रकार भत हरि का प्रमाण देकर अपन मत की व्याख्या की।

२ भत हरि की उपयुक्त कारिका पर विद्वानो न एक और प्रकार से विचार किया है। इन विद्वानो की दृष्टि म 'पश्यन्ती और 'परा' म कोई मौलिक अतर नही है। वाक क भेद तीन ही हैं। अतएव मध्यमा' का नाम साथक है। यह वैखरी तथा 'पश्यन्ती' के मध्य म स्थित होन के कारण मध्यमा कहलाती है। यदि चार भेद होते, तो द्वितीय भेद को 'मध्यमा' कहन का औचित्य सिद्ध नही होता। 'परा' स आरम्भ कर गिनें तो 'मध्यमा का स्थान तीसरा हाता है। तब भी इस नाम की सार्थकता असिद्ध ही है। तीन ही भेद मानन वालो की दृष्टि म 'चत्वारि पदानि' की क्या व्याख्या की जाय? इस शका का उत्तर है कि 'नाम आदि चार भेदा को दृष्टि म रखकर ही चत्वारि' कहा गया है। अत नागश की व्याख्या का य विद्वान् स्वीकार नही करते। यहाँ सक्षप म इस मतभेद पर प्रकाश डालन का प्रयास किया जा रहा है।

२ १ अनेकतीर्थभेदाया' क द्वारा भत हरि न बताया है कि प्राण, बुद्धि तथा हृदय नामक तीन स्थानो म अवस्थित हान क कारण वाक के तीन भेद हाते हैं। प्राणस्थान की वाक का वखरी कहते हैं। बुद्धिस्थान की वाक मध्यमा कहलाती है। हृदयस्थान की वाक का नाम पश्यन्ती है। श्री सूयनारायण शुक्लजी न अपनी व्याख्या म लिखा है—'अनेकतीर्थेन अनेकस्थानेन प्राणबुद्धिहृदयाख्येन भेदा

न्यस्मान्नस्या अनवतीयभेगाया वयर्या मध्यमाया पश्यन्त्या च त्रय्या वाच एतदद्भुत व्याकरण पर पद परम स्थानम। व्याकरणन त्रयी वाक् विनातु शक्यति भाव ।

(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाड, पृ० १५०)

२ २ श्री गुरुनजी न वैखरी आदि तीन भेदो का विवरण निम्न प्रकार स दिया है—

(१) तत्र परश्रोत्रविषया श्लिष्टव्यक्तवर्णा प्राप्तसाधुभावा भ्रष्टमस्वारा च वखरी।

(वही प० १५०)

(२) अन्त मनिवशिनी परिगहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मप्राणवत्य-नुगता मध्यमा। क्रमसहारभावपि व्यक्तप्राणपरिग्रहति केचित।

(३) प्रतिसहृतक्रमा सत्यप्यभेद समाविष्टक्रमशक्ति पश्यन्ती। सा चला चला प्रतिलब्धसमाधाना च आवत्ता विशुद्धा च सर्वा नविष्टज्ञेयाकारा निराकारा च परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा ससृष्टार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा च।"

(वही प० १५०)

२ २ १ वैखरी परश्रोत्रविषया' होती है। श्रोता इस वाक का सुनते हैं श्रावण प्रत्यक्ष का विषय होन स यह वाक ध्वनिरूप है।' श्लिष्टव्यक्तवर्णा'। इस वाक के घटक वर्णध्वनिया को ही वर्ण कहते हैं—व्यक्त अर्थात स्पष्ट होते हैं। अस्पष्ट उच्चारण से श्रोता ध्वनियो को ग्रहण नही कर पाता। वर्ण व्यक्त हैं तो श्रवण भी अनायास सभव होना है। ध्वनियो का क्रम होता है। क्रम से ही उच्चारण किया जाता है। इस अर्थ से प्रतिपादन के लिए श्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया है। श्रोत्रग्राह्य क्रमवर्ती, उच्चार्यमाण और प्राणस्थानवर्ती ध्वनियो का ही वैखरी' कहत हैं। इस निरूपण का आधार निम्न कारिका है—

"स्थानेषु विघते वायौ
कृतवर्णपरिग्रहा।
वखरी वाक प्रयोक्तणा
प्राणवत्तिनिबन्धना॥'

'विशिष्टाया खरावस्थाया स्पष्ट रूपाया भवा वैखरी। यह इस शब्द की एक निरुक्ति है। विशेष प्रकार की स्पष्टता की दशा या स्थिति मे होन से इस वाग्भेद का नाम वखरी पडा। विखर' शब्द का अर्थ देह तथा इन्द्रियो का समूह लिया जाता है। विखरे भवा वखरी। "केचित्तु विखर इति देहेन्द्रियसघात उच्यत, तत्र भवा वखरी इत्याहु।'

(वही पृ० १५१)

२ २ २ मध्यमा 'अन्त सनिवशिनी होती है। तात्पर्य है कि उच्चारण क

द्वारा यह परश्रोत्रग्राह्य नहीं बनती। वक्ता जब कुछ कहना चाहता है तब उच्चारण से पूर्व वह अपनी बुद्धि से अर्थ (जो विवक्षित तथा वक्तव्य है) का आकलन करता है और फिर उस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित शब्दों का आकलन करता है। कहा भी है—'आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।' जो अर्थ विवक्षित है उसकी अभिव्यक्ति कई प्रकार के शब्दों से की जा सकती है। एक ही भाषा में एक ही अर्थ के कथन के कई प्रकार हो सकते हैं। अतः वक्ता परिस्थिति, संबोध्य व्यक्ति आदि का विचार करके अपनी इच्छा के अनुसार शब्दों का चयन करता है। वाक्य की रचना बुद्धि में कर लेता है। बुद्धि ही इसका उपादान या कारण है। उसी स्थिति में क्रम का भी निश्चय कर लिया जाता है। यहां सूक्ष्म उच्चारण भी रहता है। इन विशेषताओं पर प्रकाश डालने के लिए कहा गया है—"परिगृहीतक्रमा बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता।" कुछ लोगों का विचार है कि क्रम यहां मुख्य नहीं है। सूक्ष्म उच्चारण ही मध्यमा की विशेषता है।

२.२.३ मध्यमा के विषय में निम्न कारिका को उद्धृत किया है—

"केवलं बुद्ध्युपादाना
क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य
मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥"

स्पष्ट उच्चारण के लिए प्राणवृत्ति का आश्रयण अनिवार्य है। सूक्ष्म उच्चारण में उसकी अनिवार्यता नहीं है। 'अतः सजल्प रूपत्वात्।' प्राणवायु का विविध उच्चारण स्थानों में अभिघात नहीं होने से मध्यमा श्रोत्रग्राह्य नहीं होती। इसे स्पष्ट करने के लिए कारिका में कहा गया है—"प्राणवृत्तिमतिक्रम्य।" इसकी व्याख्या में कहा गया है—

"या पुरःस्तात् सद्व्यवस्यमाना क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपाभिव्यक्तिरहिता वाक् सा 'मध्यमा' इत्युच्यते।" (वही, पृ० १५१) 'वैखरी पश्यन्त्योर्मध्ये भावात् मध्यमा वागिति।"

२.२.४ मध्यमा वक्ता की बुद्धि से आकलित होती है। अतः उसमें प्राणवृत्ति अपेक्षित नहीं है। प्राणवृत्ति से उच्चारण निष्पन्न होता है तो वही वाक् 'वैखरी' बनती है। यह वक्ता की योग्यता के अनुसार शुद्ध भी हो सकती है या वक्ता की न्यूनता और असमर्थता के कारण अशुद्ध भी। वक्ता यदि ज्ञानी है तो व्याकरण सम्मत तथा शिष्टपरिगृहीत शब्दों का प्रयोग करेगा। तब उसकी भाषा शुद्ध होगी— प्राप्त साधु भावा।" यदि वक्ता अनभिज्ञ है तो उसकी वाक् व्याकरण विरुद्ध होगी। उसे 'अशुद्ध' या 'असाधु' कहते हैं—"भ्रष्टसंस्कार।" 'भ्रष्टसंस्कार वाक्' अपशब्द है। 'प्राप्त साधु भावा' शब्द है। 'तस्माद्

ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै वापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द ।" भाष्यकार ने इस श्रुति को उद्धृत करके बताया कि अपशब्द को म्लेच्छ कहते हैं। म्लेच्छन करने से असुर पराभूत हो गए। पराभव से बचने के लिए म्लेच्छन का वर्जन अनिवार्य है। अपशब्दों से बचना चाहते हैं तो व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। "म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।" भर्तृहरि ने इसी को आधार मानकर व्याकरण को "अध्या वाच पर पदम्" कहा। किंतु मध्यमा में जो दोष होते हैं, वे श्रोता के लिए गोचर नहीं हो सकते। अतः शुक्लजी ने वैखरी के प्रसंग में ही लिखा— 'प्राप्तसाधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च।' वैखरी के ये दोनों भेद स्पष्ट प्रतीत होते हैं—शुद्ध और अशुद्ध।

२२५ 'पश्यन्ती' में कोई क्रम नहीं रहता। 'प्रतिसंहृतक्रमा' का यही अर्थ है। यह ज्ञेयाकारा भी है तथा निराकारा भी। इसमें कुछ परिच्छिन्न अर्थों का प्रत्यवभास—प्रकाश या भान—रहता है, भासमान अर्थों में संसृष्टत्व भी हो सकता है, तथा *निर्विकल्पक भान की स्थिति में यह 'प्रशान्तसर्वार्थ प्रत्यवभासा'* भी हो सकती है। इस 'पश्यन्ती' नामक वाक् में भेद या क्रम का अस्तित्व नहीं है। "ग्राह्यभेदक्रमादिरहिता स्वप्रकाशा संविद्रूपा वाक्। सा 'पश्यन्ती' इत्युच्यते।" (वही, पृ० १५१)। इसके प्रमाण में निम्न कारिका उदाहृत है—

'अविभागा तु पश्यन्ती
सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः
सूक्ष्मा वागनपायिनी॥"

२२६ 'अविभागा' का अर्थ है कि इस वाक् में वाच्य और वाचक का विभाग नहीं रहता। "सर्वतः संहृतक्रमा" । सजातीय तथा विजातीय सब प्रकार के विभागों से तथा कालकृत क्रम की स्थिति से मुक्त है। देश और काल के कारण जो सीमाएं बनती हैं उनसे सर्वथा मुक्त होने से यह वाक् 'क्रमसंहारशालिनी' होती है। "संहृतो वाच्यानां वाचकानां च क्रमो देशकालकृतो यत्र।" (वही, पृ० १५२) वाच्य तथा वाचक के भेद या विभाग से मुक्त होने का क्या तात्पर्य है? सामान्य रूप से हम यही समझते हैं कि शब्द वाचक है, अर्थ वाच्य है। द्रव्य आदि शब्दजन्य ज्ञान के विषय 'अर्थ' कहलाते हैं। वे शब्द नहीं हैं। शब्द तो उनका प्रतिपादक है। किंतु भर्तृहरि की स्थापना है कि शब्द ही अर्थ बनता है। अर्थ को उन्होंने शब्द का विवर्त कहा है। वाक्यपदीय का प्रथम श्लोक इस मत का प्रमाण है—

"अनादि निधनं ब्रह्म
शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

विवर्ततेऽर्थभावेन
प्रक्रिया जगतो यत ॥"

(ब्रह्मकाड श्लोक १)

शब्द तत्त्व ही अथ के रूप मे विवत को प्राप्त होता है। विवत' को ही भतृहरि ने अन्यत्र 'परिणाम' भी कहा है—

"शब्दस्य परिणामोय-
मित्याम्नायविदो विदु ।
छन्दोभ्य एव प्रथम-
मेतद विश्व व्यवतत ॥"

(ब्रह्मकाड, श्लोक १२०)

यहा भत हरि ने पूर्वार्ध म 'परिणाम' शब्द का प्रयाग किया और उत्तरार्ध म उसी अथ मे 'व्यवतत क्रिया का प्रयोग किया। इसम स्पष्ट है कि उनके मन म विवत और परिणाम अभिन्नार्थक पर्याय हैं। शास्त्रकार तो कहते हैं कि मिथ्याभूत या प्रातिभासिक विकार विवत है—"अतत्त्वतोऽयथा प्रथा विवत इत्युदीरित ।" परिणाम तो वस्तु की रूपातरापत्ति को कहत है—"सतत्त्वतोऽयथा प्रथा विकार इत्युदीयते ।" दूध का परिणाम दही है। दही दूध का विकार है। मूल वस्तु दूध तथा उसका रूपातर दही दोनो की व्यावहारिक सत्ता है। अत इस विकार को परिणाम' कहते है। 'अधिष्ठानसमसत्ताककार्यापत्ति परिणाम ।' शुक्ति को देखकर रजत का भ्रम होता है तो यहा रजत विवत है। 'अधिष्ठान विषमसत्ताक कार्यापत्ति विवत । यहा शुक्ति अधिष्ठान है। उसकी सत्ता व्यावहारिक है, रजत की सत्ता प्रातिभासिक है। सत्तावषम्य के कारण रजत का विवत कहते है। किंतु भत हरि न विवत और परिणाम को सिफ विकार या रूपातर के अथ मे प्रयुक्त किया है। यह शब्दतत्त्व ही ब्रह्म है। वही स्फोट के रूप से वाचक है। वाच्य अथ भी उसी का रूपातर है। यह शब्दाद्वतवादी दृष्टिकोण है। अत पश्य ती को अविभागा आदि विशेषणो स विशेषित किया है।

२ २ ७ प्राचीन वयाकरणवाक के तीन भेद मानते थे—"इदमत्रावधेयम। पश्यन्ती मध्यमा वैखरी चेति त्रिविधव वाक् ।" [ब्रह्मकाड की टीका भावप्रदीप, पृ०१५२] पश्य ती को ही सूक्ष्म स्वरूप मे परा वाक कहते थे। 'परा' पश्यन्ती से भिन्न नही है। ब्रह्म को सगुण तथा निर्गुण, पर तथा अपर कहन पर भी ब्रह्म का एकत्व खडित नही होता। कोई भी शास्त्रकार ब्रह्मद्वित्व को नही मानता। उसी प्रकार पश्यन्ती और परा दो विभिन्न शब्द नही हैं। 'भावप्रदीप' मे कहा गया है—

"पश्यन्त्येव सूक्ष्मत्वेन परा वाक। पश्यन्तीमतिक्रान्ता तदभिन्नरूपा वा सा इति विचारस्तु व्यर्थ एव। सगुणनिर्गुणादिभेदेन परापरभेदेन वा द्विविधतया

र्वाणतस्यापि ब्रह्मणो यथा एकत्व न विरुद्धम तथा एकैव प्रत्ययवर्माशिनी वाक गुणभूमिमतीत्य कदाचित पश्यन्तीति कदाचिच्च परेति सज्ञया उपवण्यते। प्राचीनवैयाकरणै पश्यन्त्येव परा इति स्वीकृतमासीत॥"

(वही पृ० १५२)

२ २ ८ इस प्राचीन परम्परानुसारी मत का उपष्टम्भक प्रमाण 'शिव दृष्टि' नामक ग्रथ म वयाकरण मत के निरूपण के प्रसग म यो दिया गया है—

"इत्याहुस्ते पर ब्रह्म
यदनादि तथाऽक्षयम।
तदक्षर शब्दरूप
सा पश्यन्ती परा हि वाक॥

महान वैयाकरण नागेश भटट ने 'पश्य ती को योगिप्रत्यक्षगम्य कहकर 'परा' को चतुथ भेद के रूप म स्वीकार किया है। ऋग्वदभाष्य मे माधव ने 'चत्वारि वाक' की यही व्याख्या की है। किंतु कैयट ने उक्त श्रुति की व्याख्या मे यही लिखा है कि नाम आदि चार पदजातो का चतुथ भाग ही अवैयाकरणो के व्यवहार म आता है। कैयट के ये शब्द द्रष्टव्य हैं— 'तत्र चतुर्णा पदजातानामेकैकस्यचतुथ भाग मनुष्या अवयाकरणा वदन्ति।" (महाभाष्य, प्रदीप, पृ० ३२) कयट के ये चार पदजात क्या है ? परा आदि को यहा ग्रहण करना सभव नही है। परा आदि के चतुर्थांश का व्यवहार कैसे हो सकता है ? अत कयट की उक्ति से स्पष्ट है कि नाम, आख्यात, उपसग और निपात —य चार भेद ही श्रुति मे विवक्षित हैं। यही व्याख्या प्राचीन परपरा से भी अनुमोदित है। नागोजी भटट की व्याख्या तो तन्त्र शास्त्र की वासना से प्रेरित है। भावप्रदीप कहता है—' माधवादिव्याख्यानस्य त न्त्रशास्त्रवासनामूलकतया वयाकरणैरनुपादेयत्वात्॥"

(वही, पृ० १५३)

२ २ ६ भाष्यप्रदीप की व्याख्या मे स्वय नागेश ने भी कहा है—"एककस्य नामादिरूपस्य चतुर्थं भागम्। एककस्य चतुरशत्वात।" (उद्द्योत पृ० ३२) किंतु इस बात का क्या प्रमाण है कि नाम आदि पदजातो मे प्रत्यक के चार अश होते हैं ? 'भावप्रदीप' मे कहा गया है कि वाग्ब्रह्म के चार पाद श्रुतिसिद्ध है। पुरुषसूक्त मे प्रतिपादित हुआ है—"पादोस्य विश्वा भूतानि। त्रिपादस्यामृत दिवि।' इससे यह निष्कष निकाल सकत है कि वाक् के चार पाद होत हैं। उनम एक पाद—चतुर्थांश—ही लोकव्यवहार म आता है। बाकी तीन अश व्यवहार म नही आते। नागश न इस सदभ म अपनी विचारधारा के अनुसार यह अथ भी बताया कि परा आदि चार भेदो म तीन भेद—परा, पश्यन्ती और मध्यमा—व्यवहारोपयोगी नही हैं। किंतु वयाकरण शास्त्र की सहायता से समस्त वागभेदो

को जानता है—"वैयाकरणस्तु शास्त्रबलेन तदबललब्धयोगेन च गुहा प्रकार विदाय सर्व जानातीति भाव ।"

(भाष्यप्रदीपोद्द्योत, पृ० ३३)

२ २ १० भाषा की शब्दसंपत्ति अनत है। ऊह' के कारण लाखो शब्दो का तथा वाक्यो का निर्माण किया जा सकता है। कृत तथा तद्धित प्रत्यय शब्द निर्माण के प्रमुख साधन हैं। समास से भी नवीन शब्दो की रचना की जाती है। इस शब्दभडार का विस्तार इतना अधिक है कि कोई प्रतिभासपन्न महाकवि भी भाषा के समस्त शब्दो का प्रयोग नही कर सकता। महान मेधावी भी उपलब्ध शब्दो म किसी एकदेश—कुछ प्रतिशत का प्रयोग करते हैं। अधिकाश शब्द अप्रयुक्त ही रह जाते है। किंतु वे भी प्रयोगार्ह हैं। 'तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति' का यह तात्पर्य हो सकता है कि भाषा का शब्दभडार अक्षय तथा असमापनीय (Inexhaustible) है। हम उसके एक अत्यल्प भाग का ही काम म ला सकते है। वास्तव म भाषा म निहित शक्ति अपरिच्छिन्न है, उसकी सभावनाए असीमित हैं। केवल हमारी सीमित क्षमता के कारण उसका पूर्ण उपयोग नही हो पा रहा है। इस प्रकार यह भाषा की अपार महिमा की प्रशसा की गयी है।

३ नाम आदि चार शब्द भेदो को यास्क ने भी स्वीकार किया है। निरुक्त के त्रयोदश अध्याय (परिशिष्ट) म यास्क ने चत्वारि शृङ्गा आदि ऋचा की व्याख्या की है। यास्क के शब्द निम्नाकित है—

'चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ता । त्रयोस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तास सप्त छन्दासि। त्रिधा बद्ध त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्प । वृषभो रोरवीति। रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भि, सामभि, यदेनमृग्भि शसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति, सामभि स्तुवन्ति। महो देव इत्येष हि महान देवो यद यज्ञ । मर्त्यां आविवेशेति। एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय।"

(निरुक्त, १३-७, पृ० २२५, सरूप सस्करण)

इस व्याख्या म वैयाकरणो के मत का उल्लेख नही है। पतञ्जलि ने महाभाष्य म इस मत्र की व्याख्या भाषा के सदर्भ मे करके बताया कि यह वृषभ शब्द (भाषा) ही है। भर्तृहरि ने भी उन्ही का अनुसरण करके कहा—

"आहुर्महान्त ऋषभ
येन सायुज्यमिष्यते।"

(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाड, कारिका १३१, पृ० १४०)

शब्द ही इस मत्र म वर्णित ऋषभ है। यास्क की व्याख्या यज्ञपरक है।

३ १ किंतु इसी अध्याय के नवम खड मे यास्क ने 'चत्वारि वाक परि-मिता पदानि' की व्याख्या म इस प्रकार लिखा है—

"चत्वारि वाच परिमितानि पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविन । गुहा-

या त्रीणि निहितानि नाय वेदयन्ते। गुहा गूहते । तुरीय त्वरते । कतमानि तानि चत्वारि पदानि ? ओकारो महाव्याहृतय चेत्यायम। नामाख्याते च उपसर्गनिपाता चेति वयाकरणा । मन्त्र कल्पो ब्राह्मण चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिका । ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नरक्ता । सर्पाणा वाग वयसा क्षुद्रस्य सरीसपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीति एके। पशुषु तूणवेषु मगेषु आत्मनि चेति आत्म प्रवादा ।"

(निरुक्त, १३ ९, परिशिष्ट पृ० २२६, सरूप सस्करण)

इसक बाद यास्क न कौषीतकि ब्राह्मण (KB ६ १२) से कुछ वाक्य अपनी व्याख्या के समथन म उद्धत किए हैं, जिनमे ये अ तिम वाक्य महत्त्वपूण हैं—

'अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत ता ब्राह्मणेष्वदधु । तस्माद ब्राह्मणा उभयीं वाच वद ति या च देवाना या च मनुष्याणाम।"

(निरुक्त, १३ ९ पृ० २२६)

३ २ यास्क न 'च वारि पदानि' की व्याख्या छ प्रकार से की है।

१ आप सप्रदाय के अनुसार य चार पद हाते हैं—ओकार तथा ती न महा-व्याहतियाँ। भू, भुव सुव —इन तीना को महाव्याहृति' कहत हैं। ओकार प्रणव है। इस समस्त वेदो का मूल मानते हैं। किंतु इस व्याख्या को स्वीकार करें तो तुरीय वाचो मनुष्या वद ति' की सगति बिठाना कठिन होता है। कौन से तीन पद गुहा म निहित हैं ? वह चतुथ पद क्या है जिसका मनुष्य व्यवहार करत हैं ?

२ वयाकरण व्याख्या करते हैं कि नाम, आख्यात उपसग और निपात—ये चार पद हैं। यास्क के कथन से स्पष्ट है कि यह मा यता परम्परा प्राप्त थी और यास्क न निरुक्त के आरभ म इस मा यता का स्वीकार कर लिया है, यद्यपि नैरुक्त सप्रदाय की व्याख्या इससे भि न थी।

३ याज्ञिक सप्रदाय की मा यता थी कि मत्र, कल्प, ब्राह्मण और व्यावहारिक भाषा—ये चार पद हैं। मत्र आदि तीन रहस्यात्मक हैं, अत गुहा म निहित हैं। लौकिक भाषा तो चतुथ भेद है, हम इसी का व्यवहार करत हैं। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि सस्कृत भाषा के दो भेद हैं—एक वदिक तथा दूसरा लौकिक। पाणिनि ने अष्टाध्यायी म 'छ दसि' तथा भाषायाम' कहकर इस भेद को पहचाना है। वैदिक भाषा परवर्ती काल म दुर्बोध तथा व्याख्यासापक्ष हो गयी। 'गुहा म निहित' कहन स इसी दुर्बोधता का सकेत मिलता है। मत्र आदि क रूप म वदिक भाषा के ही तीन उपदेश मान लिय जाते हैं।

४ नरक्त सप्रदाय की मा यता है कि ऋग्वद यजुर्वेद सामवद तथा व्याव-हारिक भाषा—य चार पद हैं। अथववद का इस सूची म स्थान नहीं मिला। ऋगादि तीन वदा को प्रधानता दने की परम्परा है—"इति वदास्त्रय त्रयी।" वैदिक भाषा तथा लौकिक भाषा के भेद को ही आधार मानकर यह व्याख्या की

गयी है।

५ 'एके' का अर्थ है कुछ लोग। उनका कहना है कि वाक् के चार प्रकार हैं—*सांपों की वाक्, पक्षियों की वाक्, क्षुद्र सरीसृप (रेंगने वाले जीव) की वाक्* तथा व्यावहारिक भाषा। पक्षी आदि की वाक् हमारे लिए तो बोधगम्य नहीं है। किंतु इस व्याख्या के विषय में यह आपत्ति हो सकती है कि पशुओं की वाक् की क्यों उपेक्षा की गयी ?

६ आत्मप्रवादाः की व्याख्या दुर्गाचार्य ने यों की—'आत्मानं प्रवदन्ति आचार्याः ते आत्मप्रवादाः।'' आत्मवादी दार्शनिकों का मत है कि पशु-पक्षी, मृग और आत्मा की वाणियाँ ही वाक् के चार पद हैं। पशु और मृग का अंतर स्पष्ट करने के लिए टीकाकार बताते हैं कि ग्राम्य पशुओं को पशु तथा वन्य पशुओं को मृग मानना चाहिए। आत्मा की वाक् का अर्थ है मानवीय भाषा।

३ ३ इन छः मतों में वैयाकरणों तथा नैरुक्तों की व्याख्या अधिक संगत तथा मंत्राक्षरों के अनुकूल प्रतीत होती है। वैयाकरणों के मत को यास्क ने प्रथम अध्याय के आरंभ में ही निःसंकोच रूप से स्वीकार किया और कहा—

'तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते च उपसर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।''

(निरुक्त, १-१, सरूप संस्करण, पृ० २७)

४ पहला शब्दभेद है नाम। संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण—ये तीन प्रकार के शब्द 'नाम' के वर्ग में आते हैं। क्रिया पदों को 'आख्यात' कहते हैं। नाम और आख्यात विकारी शब्द हैं। लिंग, वचन, कारक, काल, पुरुष आदि के कारण इनमें रूपभेद होता है। उपसर्ग और निपात अविकारी शब्द हैं। इन दोनों को 'अव्यय' कहते हैं। लिंगादि के कारण इन शब्दों में रूपभेद नहीं होता। निपातों का स्वतंत्र अर्थ होता है। उपसर्ग सदा परतंत्र ही रहते हैं। उनका अपना कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। अतः उपसर्गों को निपातों से अलग मानकर एक स्वतंत्र शब्दभेद के रूप में मान्यता दी गयी है। चार शब्दभेदों का यह एक संक्षिप्त परिचय है।

४ १ नाम का वर्ग बहुत बड़ा है। शाकटायन, यास्क आदि आचार्य कहते हैं कि सभी नाम व्युत्पन्न हैं। 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि।'' आख्यात का अर्थ है क्रियावाची धातु। धातु के बाद 'कृत' प्रत्यय को जोड़ने से कृदंत शब्द बनते हैं। यास्क आदि आचार्यों की यही मान्यता है कि सभी नाम कृदन्त होते हैं। गार्ग्य, पाणिनि आदि अन्य आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि कुछ नाम कृदन्त होते हैं अवश्य, किंतु ऐसे भी कई नाम हैं जो कृदन्त नहीं है। ऐसे शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक कहते हैं। किंतु यास्क भी मानते हैं कि कई नाम तद्धितांत होते हैं तथा कुछ समासात्मक शब्द भी होते हैं। यास्क ने निर्वचन के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते समय यह कहा है—

'अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्।"

(निरुक्त २-२, पृ० ४५ सस्ता संस्करण)

तद्धितान्त नाम का यास्क ने एक उदाहरण दिया है—'दण्ड्यः पुरुषः। यहाँ 'दण्ड्य' शब्द तद्धितान्त है। "दण्डमर्हतीति वा। दण्डेन सम्पद्यत इति वा।' (वहीं पृ० ४५) समास का उदाहरण यह दिया है— राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः। × × × कल्याणवर्णरूपः। कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः। एवं तद्धितसमासान् निर्ब्रूयात्।

(वही २-२ पृ० ४५)

इससे स्पष्ट है कि यास्क तद्धितान्त तथा सामासिक शब्दों का स्वीकार करते हैं। किंतु इन्हें भी वे आख्यातज ही मानते हैं। यद्यपि ये शब्द कृदन्त नहीं हैं, तथापि कृदन्त प्रकृतिक हैं। कृदन्त शब्दों से ही ये निष्पन्न होते हैं। 'राजपुरुष' समास है, दो नामों का समुदाय है। किंतु इसके दोनों अवयव कृदन्त हैं। राजा राजतेः। पुरुषः पुरि षादः। पुरि शयः। पूरयतेर्वा। (निरुक्त २-३, पृ० ४५) पहला शब्द—समास का पूर्वपद—'राज्' धातु से निष्पन्न कृदन्त है। दूसरा शब्द—समास का उत्तरपद—स्वयं एक समास है तथा कृदन्त है। पुरि सीदतीति पुरुषः। पुरि शेते इति पुरुषः। इन दो व्युत्पत्तियों के अनुसार 'पुरुष' उपपदसमास है। पूरयतीति पुरुषः। इस तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार यह एक कृदन्त शब्द है समास नहीं। किंतु इस व्याख्या से इतना तो स्पष्ट हो गया कि पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों ही कृदन्त हैं। अतः यह समास कृदन्त शब्दों के योग से निष्पन्न और आख्यातज है। इसी प्रकार 'दण्ड्य' शब्द—जो तद्धितान्त है—'दण्ड' से बना है। "दण्ड" शब्द तो कृदन्त नाम है। अतः 'दण्ड्य' स्वयं कृदन्त न होते हुए भी धातु या आख्यात से निष्पन्न ही माना जाएगा। यास्क की धारणा यही है कि सभी नाम इस प्रकार कृदन्त अथवा कृदन्तप्रकृतिक—आख्यातज—हैं। ऐसे शब्दों की संख्या अनन्त है—'अनन्ता वै शब्दाः।"

४२ पाश्चात्य परम्परा में शब्दभेद आठ माने जाते हैं। ये हैं—संज्ञा (Noun) सर्वनाम (Pronoun) विशेषण (adjective), क्रिया (verb), क्रियाविशेषण (adverb) पूर्वसर्ग (Preposition) समुच्चयादिबोधक (conjunction) तथा विस्मयादिबोधक (Interjection)। इनमें से क्रियाविशेषण आदि अंतिम चारों को अविकारी शब्द होने के कारण भारतीय परम्परा में 'अव्यय' कहते हैं। संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण इन तीनों को 'नाम' कहते हैं। अतः स्वाभाविक रूप में यह जिज्ञासा उठती है कि 'नाम' की परिभाषा या लक्षण क्या है? यास्क ने निरुक्त के प्रथम अध्याय में—प्रारंभ में ही—नाम और आख्यात का लक्षण बताया है—

"तत्र एतत् नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति। भावप्रधानमाख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि। तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे—व्रजति, पचतीति। मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः—व्रज्या, पक्तिरिति। अद इति सत्त्वानामुपदेशः—गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। भवतीति भावस्य—आस्ते शेते, व्रजति, तिष्ठतीति।"

(निरुक्त, १-१, पृ० २७-२८, सरूप संस्करण)

४३ यास्क का कहना है कि नाम सत्त्वभूत अर्थ का वाचक होता है। *नामार्थ में भाव या क्रिया भी एक अंश के रूप में प्रविष्ट है,* किंतु वह प्रधान या विशेष्य नहीं है। वह तो सत्त्व का ही विशेषण है, सत्त्व विशेष्य या प्रधान है। गौ, अश्व इत्यादि नाम हैं। गच्छतीति गौः। इस व्युत्पत्ति को मानने के कारण 'गो' शब्द में 'गति' क्रिया—भाव—भी अर्थ के रूप में ग्राह्य है। अश्नोति अध्वानमिति अश्वः। यहां भी 'अश' धातु का अर्थ व्याप्ति—यही भाव है—शब्दार्थ का एक अंश है। किंतु गति या व्याप्ति यहाँ प्रधान या विशेष्य के रूप में नहीं है। यहाँ तो गाय या घोड़ा—सत्त्व—ही क्रियाश्रय के रूप में विवक्षित होने से प्रधान है। सत्त्वप्रधान होने के कारण ये शब्द 'नाम' हैं। "गच्छति" "अश्नोति" आदि पदों में गत्यादि रूप भाव ही प्रधान है। भावप्रधान होने के कारण ये शब्द 'आख्यात' कहलाते हैं। 'कृत' प्रत्यय तो कर्त्ता, कर्म आदि विविध अर्थों में प्रवृत्त होते हैं। अतः ऐसे प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होनेवाले नाम स्वाभाविक रूप से सत्त्वप्रधान होते हैं।

४४ कुछ 'कृत' प्रत्यय भावार्थ में विहित हैं। 'घञ्' प्रत्यय भावार्थक है। "पाक, त्याग, भोग, हर्ष" आदि कई घञन्त शब्द प्रयोग में उपलब्ध हैं। 'क्तिन्' प्रत्यय भी भावार्थक है। इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। क्तिन्नन्त शब्दों के कुछ उदाहरण हैं—"भीति, शान्ति, नीति, गति, मति" इत्यादि। ल्युट (अन) प्रत्यय भावार्थक है। ल्युडन्त शब्द नपुंसक होते हैं। 'स्मरण, कीर्तन, वन्दनम्, अर्चनम्' आदि उदाहरण हैं। ऐसे भावार्थक कृदन्त नाम कई प्रकार के मिलते हैं। इन्हें 'क्रियार्थक संज्ञा' (verbal noun) कहते हैं। यह निर्विवाद है कि ये नाम हैं। पाणिनि ने भी ऐसे शब्दों को कृदन्त प्रातिपदिक *कहा है। किंतु ये क्रियावाचक हैं। अतः शंका होती है कि ऐसे शब्दों को सत्त्वप्रधान'* कहने का औचित्य क्या है? ये तो भावप्रधान हैं। भावप्रधान होने पर भी इन्हें 'नाम' कहते हैं तो 'व्रजति, पचति' आदि आख्यातों तथा इन नामों में अंतर क्या है? यास्क ने इस प्रश्न को उठाया— तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः।" यह पूर्व पक्ष या शंका को उपस्थापित करता है। 'व्रज्या, पक्तिः' आदि शब्दों को 'नाम' कहते हैं, 'व्रजति, पचति' इत्यादि को 'आख्यात' कहते हैं। दोनों प्रकार के शब्द भावप्रधान ही प्रतीत होते हैं। तो नाम और आख्यात के अंतर की व्याख्या कैसे

करें ? यास्क के सामने यह समस्या है।

४५ यास्क का विचार है कि आख्यात से उक्त 'भाव' असत्त्वरूप होता है और नाम से उक्त 'भाव' मूर्त या सत्त्वरूप होता है। भाव जहाँ सत्त्वरूप होता है वहाँ शब्द भावार्थक होते हुए भी सत्त्वप्रधान कहलाता है। 'व्रज्या, पक्ति' आदि भावकृदन्त शब्द सत्त्वरूप भाव से वाचक होने के कारण सत्त्वप्रधान नाम होते हैं। 'व्रजति, पचति' इत्यादि आख्यात अमूर्त यानी असत्त्वरूप भाव के प्रतिपादक हैं। अतः ये भावप्रधान ठहरते हैं। यह तिङन्त तथा कृदन्त शब्दों में अर्थ की दृष्टि से मौलिक अंतर है।

४६ आख्यातवाच्य क्रिया या भाव का स्वरूप क्या है? 'पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाचष्टे।' 'व्रजति' गत्यर्थक है। 'पचति' का अर्थ पकाना है। गति और पाक कई क्रियाओं के समुदाय हैं। हम एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हैं तो क्या यह जाना—गमन या व्रज्या—केवल एक व्यापार है? इसमें कई व्यापार अन्तर्भूत हैं। दिल्ली से बम्बई जाना एक क्रिया तो है, उसमें कई क्रियाओं का समावेश है। टिकट खरीदना, स्थान का आरक्षण करना, रेलवे स्टेशन तक बस या टक्सी से जाना रेल के डिब्बे में अपने स्थान का पता लगाना, वहाँ बैठना और गन्तव्य स्थान में उतरना—ये सब जाने की क्रिया के अंग हैं। इन अंगों में एक क्रम भी अनिवार्य है। एक क्रिया पूर्व (पहली) है तो दूसरी अपर (उसके बाद की) है। ऐसे पूर्वापरीभाव या क्रम में अवस्थित विविध क्रियाओं का समूह ही 'आख्यात' का अर्थ है। यह असत्त्वभूत है।

४७ क्रिया के अंतर्गत आने वाले विविध व्यापारों को सामुदायिक रूप से एक ही इकाई (unit) मानकर 'भाव' कहते हैं। उपक्रम (आरंभ) से लेकर अपवर्ग (समाप्ति) तक के विविध व्यापारों का समुदाय क्रिया है। इस क्रिया को सत्त्व के रूप में विवक्षित करें तो कृदन्त 'नाम' का प्रयोग करते हैं। यास्क ने क्रिया के स्वरूप पर थोड़ा सा प्रकाश डालकर तिङ्वाच्य तथा कृदवाच्य क्रिया के भेद को स्पष्ट करने का प्रयास किया। किंतु 'सत्त्व और असत्त्व' का अर्थ वे स्पष्ट नहीं कर पाये। "तिङ्वाच्य क्रिया असत्त्वरूप रहती है।" —इस कथन का क्या अभिप्राय है? 'सत्त्व' शब्द का सही अर्थ क्या है? 'कृदवाच्य क्रिया सत्त्वरूप है या मूर्त है'—इस उक्ति का क्या तात्पर्य है? यास्क ने यहाँ किस प्रकार के भेद की ओर संकेत करना चाहा?

४८ पाणिनीय परम्परा के वैयाकरण कहते हैं—'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते।' यहाँ 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह यास्क के 'सत्त्व' शब्द का ही पर्याय है। द्रव्य क्या है? नैयायिकों ने सप्त पदार्थों में सबसे पहले 'द्रव्य' को स्थान दिया है। उनकी दृष्टि में गुण तथा कर्म का आश्रय द्रव्य है। पृथिवी आदि नव द्रव्यों को उन्होंने इस वर्ग में स्वीकार किया। द्रव्यत्वजातिमत्त्व

समवायिकारणत्व वा द्रव्यलक्षणम। किंतु नैयायिका के द्वारा परिभाषित यह द्रव्य यहा—वयाकरणा की चर्चा म—विवक्षित नही है। रूप, रस आदि गुण हैं। गमन आगमन आदि कम ह। गोत्व, घटत्व आदि जातिया (सामान्य) हैं। समवाय एक सबध है। अभाव एक अलग पदाथ है। इन विविध प्रकार के पदार्थों के वाचक शब्द— रूप रस, ग ध, गमनम, आकुञ्चनम्, सामान्यम, जाति, समवाय, विशेष, अभाव आदि—सभी नाम हैं। इनका अथ 'द्रव्य' स्वरूप है। तो इस प्रसग म 'द्रव्य' अथवा 'सत्त्व' का अथ क्या हो सकता है?

४ ९ 'द्रव्य' या सत्त्व का इस प्रसग म यही अथ विवक्षित है कि इसमे लिंग, सख्या और कारक का अन्वय हो सकता है। लिंग सख्या कारका वययोग्यत्व द्रव्यत्वम। आख्यात का अथ क्रिया द्रव्यरूप नही है—अर्थात उसम लिंगादि का अवय नही हो सकता। कृदन्त नाम का अथ क्रिया द्रव्यरूप है। सत्त्वरूप क्रिया का बोधक होने से भाव कृदन्त शब्द नाम के वग म आते है और असत्त्वरूप क्रिया का बोधक होने से आख्यात—तिङन्त रूप या उनके मूलाश धातु—नाम के वग मे नही आते। कृदवाच्य क्रिया का स्वरूप ऐसा है कि उसमे लिंगादि के अन्वय की योग्यता स्वत सिद्ध है। एक दूसरा उदाहरण लेने स यह बात और स्पष्ट हो सकती है। 'च' एक अव्यय ह। यह 'निपात के वग म आता है। पाणिनि ने "चादयोऽसत्त्वे' कहकर निपातसज्ञा का विधान किया है। चकार समुच्चयाथक है। किंतु चकार स उक्त समुच्चय लिंगादि स मुक्त है, असत्त्वरूप है। उसी अथ का वाचक शब्द "समुच्चय है। किंतु इस शब्द से उपस्थापित समुच्चयरूप अथ मे लिंगादि का अवय हो सकता है। समुच्चय। यह शब्द पुलिंग प्रथमाविभक्ति और एकवचन म है। "समुच्चय दशयति' 'समुच्चय वतते' इत्यादि वाक्यो म विविध कारको का योग दिखाया जा सकता है। च कार से बाधित समुच्चय मे लिंगादि की विवक्षा नही हो सकती। किंतु 'समुच्चय' शब्द से बाधित समुच्चय म लिंगादि की विवक्षा हो सकती है। इस वधम्य का कारण क्या है? शब्द स्वभाव ही इसका कारण है। इसी प्रकार आख्यातवाच्य क्रिया म लिंगादि की विवक्षा नही होती कृदवाच्य क्रिया म ऐसी विवक्षा हो सकती है। यही आख्यात तथा कृद त नाम म मौलिक अतर है जो स्वभावसिद्ध होन स हेत्व तर निरपेक्ष है।

४ १० पाणिनि ने भाव' शब्द का प्रयाग कई अर्थो म किया है। 'तस्य भावस्त्वतलौ।" (५ १-११९) यहा भाव' का अथ है प्रवत्ति निमित्त। अथगत जिस धम के कारण अथ मे शब्द की प्रवत्ति होती है उसे 'भाव' कहते ह। काशिका वत्ति म इसकी व्याख्या की गयी है—

"भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययाविति भाव। शब्दस्य प्रवत्तिनिमित्त भावशब्दे नोच्यते।' (काशिका, उत्तराध, पृ० २६) दूसरा सूत्र है—'यस्य च भावन भाव लक्षणम्।' (२ ३ ३७) यहा 'भाव' का अथ है 'क्रिया'। काशिकाकार ने लिखा

है—"भाव क्रिया। यस्य च भावेन यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततो भाववतः सप्तमी विभक्तिर्भवति। प्रसिद्धा च क्रिया क्रियान्तरं लक्षयति। गोषु दुह्यमानासु गतः।"

(काशिका, पूर्वार्ध पृ० १२७)

"भावकर्मणोः।" (१-३-१३) "भुवो भावः।" (३-१-१०७) 'भावे' (३-३-१८) इत्यादि सूत्रों में पाणिनि ने क्रिया के अर्थ में 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है। किंतु इस भाव के दो भेद हैं। एक भाव 'साध्यावस्थापन्न' कहलाता है और दूसरा सिद्धावस्थापन्न'। धातु का अर्थ क्रिया ही भाव है। किंतु कहीं कहीं वह भाव लिंगादियुक्त रहता है, इसी भाव को 'साध्यावस्थापन्न' कहते हैं। 'तेन भूयते।" यह भाव प्रधान है। भावे प्रयोग में आत्मनेपद होता है। यहां कर्ता के साथ अन्विति नहीं होती। अतः 'भूयते' यह क्रियापद सदा अन्य पुरुष (संस्कृत व्याकरण में प्रथम पुरुष, Third Person) एकवचन में ही रहता है। यह एकवचन एकत्व संख्या का बोधक नहीं है। यह तो शब्दसाधुत्व के लिए प्राप्त औत्सर्गिक एकवचन है। अतएव, "त्वया भूयते। युष्माभिः भूयते। मया भूयते। अस्माभिः भूयते।" इत्यादि में पुरुष या वचन के कारण रूपभेद नहीं हो पाता। किंतु 'पाक, भोग, रूप" आदि में घञ् प्रत्यय से बोधित भाव 'सिद्धावस्थापन्न' है। 'भावे' (३-३-१८) की व्याख्या में काशिका वृत्ति में कहा गया है—

"भावे वाच्ये धातोः घञ् प्रत्ययो भवति। पाकः। त्यागः। रागः। क्रियासामान्यवाची भवति, तेन अर्थनिर्देशः क्रियमाणः सर्वधातुविषयः कृतो भवति। धात्वर्थ च धातुनैव उच्यते। यस्तस्य सिद्धता नाम धर्मस्तत्र घञादयः प्रत्यया विधीयन्ते। पुंल्लिंगैकवचनं चात्र न तन्त्रम्। लिङ्गान्तरे वचनान्तरे चात्र प्रत्यया भवन्त्येव—पक्तिः पचनम्, पचनम्, पाकौ, पाकाः इति।

(काशिका, पूर्वार्ध ३-३-१८, पृ० २२६)

४११ 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' (३-३-४३), अभिविधौ भाव इनुण्' (३-३-४४) "एरच्" (३-३-५६) 'उपसर्गे घोः किः।' (३-३-९२), "स्त्रियां क्तिन्" (३-३-९४), 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' (३-३-९८) 'अप्रत्ययात् (३-३-१०२) "ण्यासश्रन्थो युच् (३-३-१०७) इत्यादि सूत्रों से सिद्धावस्थापन्न भाव के अर्थ में कृत प्रत्यय विहित हैं। 'नपुंसके भावे क्तः' (३-३-११४), 'ल्युट् च" (३-३-११५)—ये दो प्रत्यय भाववाचक हैं और इनमें बनने वाले कृदन्त शब्द नपुंसक लिंग में होते हैं। क्तिन् णच् आदि प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। घञन्त शब्द पुंल्लिंग होते हैं। इस प्रकार कृत्वाच्य भाव में लिंगयोग स्पष्ट है।

४१२ पाकः।' यह अकारान्त पुंलिंग प्रातिपदिक है। इसमें संख्यायोग हो सकता है। एक पाकः। दो पाकौ। बहुत पाकाः। इसी प्रकार अन्य भावकृदन्त शब्दों में भी वचनभेद द्रष्टव्य है। 'भीति, पुष्टि' आदि एकवचन में हैं। 'गता-

गतानि' बहुवचन म है। 'प्रवशनिषेधौ।" यह द्विवचन म है। सत्त्वरूप होन के कारण ही द्वद्व समास भी सभव हुआ है। कृदन्त शब्द 'प्रातिपदिक' सज्ञा का भागी है। अत एव वह सुबन्त पद के रूप म परिणत होकर समास का अग भी बन सकता है।

४ १३ कृदन्त शब्द कारकयुक्त भाव का अभिधान करते है। पाक कुरु। यहा पाक कम है। पाकेन, पाकाय, पाकात, पाके। कर्ता, करण आदि कारको म भी पाक का प्रयोग सभव है। अत एव तत्पुरुष, बहुव्रीहि आदि म भी एक अग के रूप म 'पाक' शब्द का प्रवेश हो सकता है। 'पाककर्ता' "पाकात्पन्नम" ' पाकजम" "प्राप्तपाक " "कृतपाक ' आदि समास बन सकते हैं। कारकेतर अर्थो का योग भी सभव है। पाकम्य हेतावसति। पाकाद न लभ्यते। पाकस्य फलमाप्नोति। इस प्रकार हम देखते है कि कृद्वाच्य भाव लिंग सख्या कारकादि योग क कारण धातुवाच्य भाव स सवथा भिन्न है।

४ १४ यहा शका हो सकती है कि तिडन्त पदो म भी तो विकार पाया जाता है तो तिड वाच्य क्रिया को असत्त्वरूप मानने का क्या कारण है? यह सत्य है कि तिडन्त पद विकारी होते ह। काल के कारण रूपभेद होता है—भवति (वतमान), अभवत (भूत), भविष्यति (भविष्यत्काल)। अथ (Modality) के कारण भी भेद होता है—भवतु (विध्यादि) भूयात (आशी), अभविष्यत (क्रियातिपत्ति)। पुरुष के कारण रूपभेद होता है—भवति भवसि भवामि। वचनभेद भी स्पष्ट है—भवति, भवत, भवन्ति। कतरि प्रयोग कमणि प्रयोग आदि के कारण और भी रूपभेद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आख्यात म विकार निर्विवाद रूप से सिद्ध है। तो आख्यातवाच्य भाव को असत्त्वरूप क्यो कहत ह? इस शका का उत्तर है कि इन विकारो स पुरुष, काल आदि का तो बोध होता है किंतु इनसे भाव (क्रिया) की सख्या, लिंग या कारक का बोध कदापि नही होता। देवदत्त पचति। ति एकवचन है। उमस कर्ता क एकत्व का बोध होता है। किंतु पाकक्रिया एक है या अनेक? पाकगत सख्या का बोध यहा नही होता। देवदत्त न कई दिन कई बार पकाया होगा। किंतु पचति से क्रिया की सख्या प्रतीत नही होती। पाक' शब्द से क्रिया की सख्या का बोध होता है। देवदत्तस्य पाक। पाक —इस एकवचन से पाकगत एकत्व का बोध होता है। दो आदमी मिलकर पाक करें तो भी 'देवदत्तयज्ञदत्तयो पाक ' म क्रिया के एकत्व की विवक्षा मे एकवचन का प्रयोग होता है। तिडन्त रूप—आख्यात—को लें तो यहा कत गत द्वित्वसख्या के कारण द्विवचन होगा—"देवदत्तयज्ञदत्तौ पठत।" ' सर्वे भगवन्त भजन्त।" यहा 'भजन क्रिया एक है, फिर भी कत बहुत्व के कारण तिड प्रत्यय बहुवचन प्रयुक्त है। कर्ता एक ही हो और उसकी क्रियाए अनेक हो तो क्रियागत बहुत्व की विवक्षा म कृदन्त शब्द म बहुवचन लगेगा—'यस्य उपदेशा नान

जनयन्ति।" इससे स्पष्ट है कि तिङन्त पदों में वर्तमान संख्या के आधार पर वचन की व्यवस्था होती है और उससे क्रियागत संख्या का बोध कदापि नहीं होता।

४.१५ तिङ्वाच्य क्रिया में लिंग का अन्वय तो होता ही नहीं। तमिल, हिंदी आदि भाषाओं में क्रियापदों में भी लिंगभेद पाया जाता है। किंतु संस्कृत में सर्वनाम और विशेषण में लिंगभेद होता है, संज्ञा या विशेष्य के लिंग का अनुसरण करने से ऐसा रूपभेद होता है, किंतु क्रियापदों में लिंगभेद नहीं होता। रामः गच्छति। सीता गच्छति। वणिजां वृन्दं गच्छति। इन वाक्यों में 'गच्छति' क्रिया में लिंगभेद नहीं है। इसी प्रकार 'गच्छति' इत्यादि आख्यातों से उक्त क्रिया में कारक का अन्वय भी संभव नहीं है। 'गमनं तव श्रेयः करिष्यति।" यहां "गमनम्"—कृद्वाच्य क्रिया—कर्ता के रूप में निर्दिष्ट है। "गच्छति" में 'ति' प्रत्यय कर्ता का बोधक है। लेकिन यह कर्ता कोई और है 'गम' धातु से उक्त क्रिया को यहां कर्ता नहीं कह सकते। अतः रूपभेद के होने पर भी आख्यातवाच्य क्रिया में लिंगादि का अन्वय नहीं होता, यह भाव साध्यावस्थापन्न या असत्त्वरूप है।

४.१६ यास्क का यह वाक्य अपूर्ण सा प्रतीत होता है— तद्यत्रोभे भाव-प्रधाने भवतः।" यहां यच्छब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि यह एक आश्रितवाक्य है, इसके बाद तच्छब्दघटित उत्तरवाक्य अपेक्षित है। "यत्तदोर्नित्यमभिसंबन्धः।" इसीलिए वाक्य का अर्थ अपूर्ण या अस्पष्ट रह गया है। दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि जहां नाम तथा आख्यात दोनों का प्रयोग होता है वहां 'भाव' ही प्रधान माना जाता है। वाक्य में नाम तथा आख्यात दोनों ही साथ प्रयुक्त होते हैं। नाम तो अपनी प्रकृति से सत्त्वप्रधान रहता है। आख्यात भावप्रधान है। किंतु वाक्य में किसको प्रधान स्थान देना चाहिए? दुर्गाचार्य यास्क के मत की व्याख्या में कहते हैं कि वाक्य में नामार्थ विशेषण बनकर आता है और आख्यातार्थ भाव ही प्रधान या विशेष्य रहता है। वैयाकरण व्यापारमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध को स्वीकार करते हैं। 'देवदत्तः पचति।" इस वाक्य में 'पच' धातु का अर्थ—पाका-नुकूल व्यापार—ही मुख्य विशेष्य है। देवदत्त इस व्यापार का आश्रय, कर्ता है। अतः वह धातूपात्त व्यापार का विशेषण बनता है। 'देवदत्तकर्तृकः पाकानुकूलो व्यापारः।' व्यापारमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध का यह अर्थ होता है। नैयायिक प्रथमान्त पद से उपस्थापित अर्थ—कर्ता को मुख्य विशेष्य मानते हैं। वे प्रथमान्त मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में कर्ता विशेष्य है, और धात्वर्थ व्यापार उसका विशेषण है। 'वर्तमानकालिकपाकानुकूलव्यापारा-श्रयो देवदत्तः।' शाब्दबोध का यह स्वरूप नैयायिकसम्मत है। यहां नामार्थ—सत्त्व प्रधान है। इसके विपरीत वैयाकरणों के मत में व्यापार—भाव—प्रधान है। दुर्गाचार्य ने बताया है कि वाक्य में जहां नाम तथा आख्यात दोनों पदों का सह-

प्रयोग होता है यास्क भाव की प्रधानता को स्वीकार करते हैं। किंतु इस प्रसंग में ऐसी व्याख्या को प्रकरणानुकूल नहीं कह सकते। यहाँ वाक्य का विवेचन प्रकृत नहीं है। यदि यास्क को यही अर्थ अभिमत होता, तो वे कहते—"तद् यत्रोभे संनिपतेत, तत्र भावः प्रधानो भवति।" फिर एक वाक्य का उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करते। वाक्य में भाव प्रधान होता है तो भी 'उभे भावप्रधाने भवतः" की क्या उपपत्ति है? द्विवचन से स्पष्ट होता है कि नाम भी आख्यात की भाँति भावप्रधान है। तो क्या यास्क यह मानते हैं कि जब नाम केवल—अकेला आख्यातरहित—होकर आता है तब सत्त्वप्रधान रहता है और आख्यात के साथ आने पर वह भी भावप्रधान बन जाता है? वाक्य में भी नाम की सत्त्वप्रधानता पूर्ववत बनी रहती है। इसके बाद 'व्रजति (तिङन्त) और पक्त्वा' (कृदन्त) का उदाहरण देने का क्या औचित्य है? अतः यास्क यहाँ वाक्य के विषय में नहीं, अपितु तिङन्त तथा कृदन्त पदों के विषय में विचार कर रहे हैं। ये दोनों प्रकार के पद भावप्रधान हैं। फिर भी कृदन्त को नाम कहते हैं क्योंकि उसमें प्रतीयमान 'भाव' सत्त्वरूप होता है। इस व्याख्या में यास्क के वाक्यों की पूर्वापरसंगति स्पष्ट हो जाती है।

४ नाम और सर्वनाम को एक वर्ग में रखना उचित है। सर्वनाम तो नाम का प्रतिनिधि होता है। वह वाक्य में नाम यानी संज्ञा के स्थान में प्रयुक्त होता है। 'सर्वनाम' एक अन्वर्थ शब्द है। सर्वेषां वस्तूनां नाम वाचकं सर्वनाम। घट, पट आदि शब्द किसी विशिष्ट अर्थ के ही वाचक होते हैं। किंतु सर्वनाम किसी भी पदार्थ के लिए प्रयुक्त हो सकता है। घट के अर्थ में 'पट' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, इसी प्रकार पट के अर्थ में 'घट' का प्रयोग भी अनुचित है। किंतु 'स' आदि सर्वनाम घट पट आदि सभी अर्थों के परामर्श के लिए प्रयुक्त होते हैं। अतएव ऐसे शब्दों को 'सर्वनाम' कहना न्यायसंगत है। किंतु हिंदी अंग्रेजी आदि भाषाओं में 'सर्वनाम' (Pronoun) की जो परिभाषा स्वीकृत है वह संस्कृत भाषा के संदर्भ में मान्य नहीं हो सकती। संस्कृत के सर्वनाम संज्ञा के प्रतिनिधि ही नहीं होते, उनमें कुछ विशेषण भी हैं। हिंदी में भी कुछ सर्वनामों का प्रयोग विशेषण के रूप में होता है। 'यह लड़का, वह आदमी किस ग्रंथ में" आदि में 'यह', 'वह' और 'किस' विशेषण का काम कर रहे हैं। किंतु इनका सर्वनाम के रूप में भी प्रयोग होता है। मूलतः ये सर्वनाम यानी संज्ञा के प्रतिनिधि हैं, कहीं-कहीं संज्ञा के साथ आते हैं तो विशेषण के रूप में काम करते हैं। किंतु संस्कृत के कुछ शब्द 'सर्वनाम' के वर्ग में स्थान पाकर भी सदा 'विशेषण' के रूप में ही काम करते हैं। अतएव संस्कृत में सर्वनाम की परिभाषा कुछ भिन्न प्रकार की दी जाती है।

४.१ तो फिर संस्कृत में सर्वनाम की परिभाषा क्या है? पाणिनि का एक सूत्र इसका उत्तर देता है—"सर्वादीनि सर्वनामानि।" (१-१.२७) सर्वादि एक

गण है। इस गण म पठित सभी शब्दो को 'सवनाम' कहते हैं। भट्टाजि दीक्षित ने इस सूत्र की व्याख्या म सिद्धा तकौमुदी म स्पष्ट कहा कि सवादि गण म पैंतीस श द सकलित हैं—"सर्वादय च पञ्चत्रिंशत।" (पृ० ४६) काशिका म सर्वादि गण के य शब्द गणपाठ क आधार पर दिय गए ह—

"सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, इतर, अ य, अ यतर, त्व, त्व, नेम, सम, सिम, पूव, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर स्व, अ तर, त्यद्, तद्, यद्, एतद इदम अदस, एक, द्वि, युष्मद, अस्मद भवतु किम्।"

(काशिका, पूर्वाध, पृ० १३)

'डतर' और डतम' प्रत्यय हैं। वे प्रत्ययात श दो के प्रतिनिधि के रूप मे पठित हैं। 'किं यत्तदो निर्धारण द्वयोरेकस्य डतरच्।' (५- ६२) 'वा बहूना जातिपरिप्रश्ने डतमच।" (५ ३ ९३) "एकाच्च प्राचाम्।" (५ ३-९४) इन सूत्रो से तद्धितप्रकरण मे 'डतर' तथा 'डतम' प्रत्यय का विधान किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्ययात शब्द चार चार हैं। कतर, यतर, ततर और एकतर—य चार शब्द डतरात हैं। कतम, यतम ततम और एकतम—ये चार शब्द डतमा त हैं। इस प्रकार य आठो शब्द सवादि गण मे गृहीत हो जाते हैं। प्रत्यय के हिसाब से इनको 'दो' शब्दा के रूप मे गिन लिया जाता है।

५ २ 'इतर' और 'अ यतर' म जो 'तर' है वह प्रत्यय नही है। य दोनों प्रातिपदिक हैं, अव्युत्पन्न हैं। "अ यतम" भी इसी प्रकार का अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। 'इतर' और "अ यतर ' गण म पठित हैं। अत वे सवनाम हैं। 'अ यतम' सवनाम नहीं है।

५ ३ सव, विश्व, इतर, अ य, नेम, सम, स्व, पूव, पर आदि शब्द अथ स्वभाव से विशेषण हैं।' सर्वे जना सुखिनो भव तु।" यहा सव' शब्द 'सब' (All) के अथ म विशेषण है। "सर्वो ग्रथ पठित।" यहा सव' शब्द 'सारा' (whole, entire) के अथ मे विशेषण है। 'नम' का अथ आधा' है। इसी प्रकार 'एक' द्वि'—ये दोनो शब्द सख्यावाचक है। 'एक' शब्द के तीन अथ कोश म बताए गये हैं—' एके मुख्या यकेवला।' तीनो अर्थों मे यह शब्द विशेषण ही है फिर भी गणपाठ के कारण उसे सर्वनाम' कहते हैं। अत स्पष्ट है कि सस्कृत म 'सवनाम' की परिभाषा गणपाठ (listing) पर आधारित है।

५ ४ सवनाम को पाठ के आधार पर निर्धारित करते हैं तो उसे 'नाम' के वग मे रखने का औचित्य क्या है? इस शका का उत्तर है कि सवनाम सज्ञा का आधार गणपाठ है तो इसम सर्वनाम को रूपरचना मे कुछ विशेष अतर नही होता सज्ञा और सवनाम की रूपरचना मे कोई मौलिक अतर नही है। सुप प्रत्यय जिस प्रकार सज्ञा म लगते हैं उसी प्रकार सर्वनाम मे भी लगते हैं। प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियो की व्यवस्था मे कोई अतर नहीं है। सज्ञा शब्दो म तद्धित प्रत्यय

लगाकर व्युत्पन्न शब्द निर्मित किए जाते हैं। भारतीय, राजकीय, सामाजिक आदि शब्द इस बात के उदाहरण हैं। सर्वनाम से भी इसी प्रकार तद्धित प्रत्यय लगाकर व्युत्पन्न शब्दों का निर्माण कर सकते हैं, करते हैं। त्वदीय, एतादृश, इयत्ता आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। संज्ञा शब्द की तरह सर्वनाम भी समास-रचना में सहायक हो सकता है। 'त्वत्पुत्र, अस्मदगृहम् तादात्म्यम्", आदि सामासिक शब्द सर्वनामघटित हैं।

५.५ सर्वनाम में लिंगभेद पाया जाता है। सर्व, सर्वा, सर्वम्। स सा, तत। अयम्, इयम, इदम। पुंलिंग में द्वितीया बहुवचन के रूप हैं—सर्वान्, तान्, इमान। यहां 'शस' प्रत्यय के सकार के स्थान पर नकार हुआ है। "तस्माच्छसो न पुंसि।' किंतु स्त्रीलिंग में रूप हैं—सर्वा, ता, इमा। यहां शस के सकार का विसर्ग हुआ है। नपुंसक लिंग में इन शब्दों के रूप हैं—सर्वाणि तानि इमानि। जश्शसो शि। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सर्वनाम में लिंगभेद और तन्निमित्तक रूपभेद होता है। सत्त्व का एक लक्षण है—लिंगान्वययोग्यत्व। वह सर्वनाम में पाया जाता है।

५.६ संख्या और कारक का अन्वय भी सर्वनाम में अबाधित है। सर्व सर्वौ, सर्वे। तीनों वचन उपलब्ध हैं। स तौ, ते। अयम इमौ, इमे। सर्वम सर्वेण, सर्वस्मै, सर्वस्मात सर्वस्य सर्वस्मिन्। सातों विभक्तियों में रूप उपलब्ध हैं। इसी आधार पर यास्क ने त्वत शब्द को सर्वनाम घोषित किया। उनका तर्क था— "दृष्टव्ययं तु भवति।' (निरुक्त प्रथम अध्याय) 'उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे' इत्यादि ऋचाओं में 'त्वत् शब्द के भिन्नविभक्त्यन्त रूप उपलब्ध होते हैं। अत यास्क ने निर्णय किया कि यह सर्वनाम है, निपात नहीं। लिंग, संख्या और कारक के अन्वय से प्रमाणित होता है कि सर्वनाम भी सत्त्वप्रधान 'नाम' है।

५.७ तो फिर संज्ञाओं और सर्वनामों में अंतर क्या है? सत्त्वप्रधानता में अंतर नहीं है। फिर भी कुछ रूपों की रचना में थोड़ा सा अंतर पाया जाता है।

(i) प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का प्रत्यय 'जस'। पुंलिंग में इसके स्थान में ईकार का आदेश होता है। जस शी। सर्व + जस = सर्व + ई = सर्वे। सर्वे जना सुखिनो भवन्तु। यह आदेश स्त्रीलिंग में नहीं होता। सर्वा स्त्रियः। नपुंसकलिंग में भी ईकार—दीर्घ—नहीं होता। यहां तो इकार—ह्रस्व—ही होता है। जश्शसो शि। सर्वाणि।

(ii) द्वितीया विभक्ति और तृतीया विभक्ति में कोई रूपभेद 'सर्वनामत्व के कारण नहीं होता।

(iii) चतुर्थी एकवचन में 'स्मै' का आदेश होता है। सर्वस्मै। तस्मै। अस्मै। किंतु स्त्रीलिंग में 'स्यै' का रूप मिलता है। सर्वस्यै। तस्यै। अस्यै। 'स्मै' तो पुंलिंग तथा नपुंसकलिंग दोनों में समान है। अस्मै विप्राय। अस्मै कर्मणे।

(iv) पञ्चमी एकवचन मे पुंलिंग तथा नपुंसक लिंग मे 'स्मात्' का आदेश मिलता है। सर्वस्मात्। तस्मात्। अस्मात। स्त्रीलिंग म इसका रूप है 'स्या'। सर्वस्या। तस्या। अस्या।

(v) षष्ठी बहुवचन मे 'आम्' प्रत्यय के साथ सकार का आगम होता है। तब प्रत्यय का रूप 'साम' होता है। पुंलिंग तथा नपुंसक लिंग म पूर्ववर्ती अकार का एकार होता है और सकार का मूर्धन्यादेश होता है। सर्वेषाम। तेषाम्। एषाम। स्त्रीलिंग मे स्त्रीप्रत्यय टाप् का आकार ही रहता है। अत एत्व और षत्व की प्रवृत्ति नही होती। सर्वासाम्। तासाम। आसाम्।

(vi) सप्तमी एकवचन मे 'स्मिन्' का रूप मिलता है। सर्वस्मिन्। तस्मिन्। अस्मिन। यह रूप पुंलिंग और नपुंसक लिंग म पाया जाता है। स्त्रीलिंग मे तो 'स्याम' का रूप मिलता है। सर्वस्याम्। तस्याम्। अस्याम्।

५ ८ रूपरचना की दृष्टि से ये अतर पाये जाते हैं। अष्टाध्यायी के निम्नांकित सूत्रों मे इनका विधान किया गया है—

१ जस शी। ७ १-१७
२ सर्वनाम्न स्मै। ७ १-१४
३ सर्वनाम्न स्याड् ह्रस्व च। ७ ३-११४
४ ङसिङ्यो स्मात्स्मिनौ। १७ १-१५
५ आमि सर्वनाम्न सुट्। ७ १-५२

'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक टे' आदि सूत्रों से कुछ विशेष कार्य विहित हैं। किंतु व्याकरण की दृष्टि से इनका कोई उल्लेखनीय महत्त्व नही है। "ह्रस्वस्य गुण, घेर्ङिति" इत्यादि के समान ही य विशेष हैं। अत एव सर्वनाम शब्दो को 'नाम' वर्ग में स्थान दिया गया। उन्हें पृथक शब्दभेद नही माना।

६ विशेषण को भी संज्ञा के साथ 'नाम' के अंतर्गत ही स्थान दिया जाता है। इसका भी कारण स्पष्ट है। विशेषण की भी रूपावली संज्ञा की रूपावली के समान बनती है। विशेषण के रूप लिंग, विभक्ति और वचन से प्रभावित होते हैं। संस्कृत के विशेषण सही अर्थ म विकारी शब्द है। लिंग, संख्या और कारक का अन्वय उनम स्पष्ट है। इस विषय म वे पूर्ण रूप से संज्ञा शब्दो के समान हैं। अत उनको 'नाम' वर्ग म रखना उचित है।

६ १ हिंदी म केवल आकारांत विशेषण म ही रूपांतर पाया जाता है। अच्छा काम। अच्छी बात। अच्छे आदमी। अन्य विशेषणों म रूपांतर नही होता। सुंदर लडका। सुंदर लडके। सुंदर लडकी। जब तुलना करते हैं, तब भी विशेषण के रूप मे अंतर नही करते। राम गोपाल से अच्छा है। राम सबसे अच्छा है। अथवा इसी अर्थ मे कहते हैं—'अच्छे से अच्छा'। अत हिंदी म विशेषण प्राय अविकारी रहता है। अंग्रेजी म भी विशेषण की स्थिति ऐसी ही है। लिंग, संख्या या

लगाकर व्युत्पन्न शब्द निर्मित किए जाते हैं। भारतीय, ग
आदि शब्द इस बात के उदाहरण हैं। सर्वनाम से भी इसी
लगाकर व्युत्पन्न शब्दों का निर्माण कर सकते हैं, यथा
इयत्ता आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। सर्वनाम की तरह
रचना में सहायक हो सकता है। "त्वत्पुत्र", अस्मद्‌गृह
सामासिक शब्द सर्वनामघटित हैं।

५.५ सर्वनाम में लिंगभेद पाया जाता है। स
तन। अयम् इयम् इदम्। पुल्लिंग में द्वितीया बहुवच
इमान्। यहां 'शस्' प्रत्यय के सकार के स्थान पर न
न पुंसि। किंतु स्त्रीलिंग में रूप हैं—सर्वा, ता
दिया हुआ है। नपुंसक लिंग में इन शब्दों के रू
जश्शसो: शि। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सर्व
रूपभेद होता है। सत्त्व का एक लक्षण है—
पाया जाता है।

६ ४ लिंग, वचन और विभक्ति के ऐसे भेद को आधार बनाकर ही सस्कृत के प्राचीन वैयाकरणो ने विशेषण को 'नाम वग म स्थान दिया। अव्यय श द तो अविकारी होते हैं। अत उ हे 'नाम' के क्षेत्र म लेना उचित नही है। आख्यात तो भावप्रधान है। दूसरी विशेषता आख्यात की यह है कि वह लिंग से मुक्त है। 'पचति, अगच्छत' आदि तिङ त क्रिया का कोई लिंग नही होता। तिङ प्रत्यय के तीन अथ बताय जाते हैं—कर्ता, कम और भाव। इनमे कर्ता और कम कारक है। लेकिन करण आदि अ य कारक तिङ त क्रिया से अभिहित नही होते। अत तिङ् वाच्य क्रिया या कारक को सत्वरूप नही कह सकते। इस प्रकार वैदिक परम्परा के वैयाकरणो ने सज्ञा, सवनाम और विशेषण को एक वग मे रखकर उसे 'नाम' शब्द से एक शब्दभेद कहने लगे।

७ अंग्रेजी भाषा के व्याकरण ग्रथो मे चार शब्द-भेद ऐसे बताये जाते हैं जो लिंगादिकृत रूपभेद से मुक्त रहते हैं। इनके नाम हैं—(१) पूवसग (preposition) (२) सबधाथक—समुच्चयादिबोधक (conjunction) (३) क्रिया-विशेषण (adverb) और (४) विस्मयादिबोधक (interjection)। इन चारो प्रकार के शब्दो को हम 'अव्यय कह सकते हैं। रूपात्मक दृष्टि स य चारो शब्द-भेद समान हैं। इन शब्दो म रूपातर नही होता। व्युत्पादक प्रत्यय लगाकर हम चाहे तो शब्दातर बना सकते है। अत इसके चार भेद मानन के स्थान पर रूप भेद राहित्य के आधार पर इन सबको अविकारी शब्द या 'अव्यय' कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

७ १ प्राचीन परम्परा मे अव्ययो के भी दो वग बनाय गये। एक वग का नाम है उपसग'। दूसरा वग 'निपात' कहलाता है। दोनो को अव्यय' कहना उचित तो है, किंतु दोनो म मौलिक अतर है। इस अतर की उपेक्षा करना सभव नही। अत एव वैदिक परपरा चार शब्दभेदो को स्वीकार करती है। 'चत्वारि वाक परिमिता पदानि'। पतजलि आदि आचाय भी कहते है—"नामाख्यातोपसगनिपाताश्च।' उपसग और निपात को अलग-अलग मानन की प्रथा बहुत प्राचीन है।

७ २ यह मौलिक अतर क्या है? उपसग स्वतत्र अथ के वाचक शब्द नही हैं। निपात स्वतत्र अथ देते हैं। उपसग शब्दातर से अ वित होकर ही अथ दे सकते हैं। व दिक सस्कत मे उपसर्गों को स्वतत्र शब्द के रूप म मा यता प्राप्त थी। कि तु लौकिक सस्कत मे उनकी स्वतत्रता समाप्त हो गयी। वदोत्तर सस्कृत मे उपसग आबद्ध रूप ही हैं। उनका प्रयोग धातु से अ यवहित पूव ही किया जाना है। पाणिनि के सूत्र इस विषय के प्रमाण हैं—

१ उपसर्गाः क्रियायोगे।
२ ते प्राग् धातोः।

कारक के कारण रूपांतर नहीं होता। Good man, Good men Good woman, Good women He is a good man I saw a good man This is a good thing किंतु तुलना म रूपभेद पाया जाता है। Good, Better Best इसको अंग्रेजी व्याकरण म Degree—डिग्री कहा जाता है। स्पष्ट है कि अंग्रेजी म विशेषण प्राय अविकारी है।

६ २ किंतु सस्कृत मे विशेषण पूर्ण रूप से विकारी शब्द है। वह विशेष्य के अधीन रहता है। विशेष्य के लिंग, वचन और विभक्ति का वह अनुसरण करता है। कहा गया है—

"यल्लिङ्ग यद्वचन या च विभक्तिर्विशेष्यस्य। तल्लिङ्ग तद्वचन सा च विभक्तिर्विशेषणस्यापि॥"

इस कारण से विशेषण के रूप लिंग, वचन और विभक्ति के अनुसार बदलते रहते हैं। कुछ उदाहरणो पर अब विचार करें—

(१) राम सुदर। पु० प्र० ए०
(२) सीता सुन्दरी। स्त्री० प्र० ए०
(३) भवन सुन्दरम। नपु० प्र० ए०
(४) बालकौ सुन्दरौ। पु० प्र० द्वि०
(५) बालिके सुन्दर्यौ। स्त्री० प्र० द्वि०
(६) पुष्पे सुन्दरे। नपु० प्र० द्वि०
(७) बालका सुन्दरा। पु० प्र० ब०
(८) बालिका सुन्दर्य। स्त्री० प्र० ब०
(९) पुष्पाणि सुन्दराणि। नपु० प्र० ब०

8962

६ ३ पूर्वोक्त उदाहरणो मे दिखाया गया है कि लिंग और वचन के भेद के कारण विशेषणो म रूपभेद होता है। कारक के कारण भी रूपभेद पाया जाता है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं—

(१) विद्वान् राम प्रशस्यते।
(२) विद्वास राम जना प्रशसन्ति।
(३) विदुषा रामेण लिखितो ग्रन्थ।
(४) विदुषे रामाय फल देहि।
(५) विदुष रामात पुस्तकमानय।
(६) विदुष रामस्येद गृहम।
(७) विदुषि रामे विनय शोभते।

इन वाक्यो म 'विद्वान्' शब्द सातो विभक्तियो म प्रयुक्त है। विभक्ति तो कारक तथा कारकेतर दोनों तरह के अर्थों मे आती है। अत ये उदाहरण कारक योग को सिद्ध करते हैं, साथ ही विभक्ति भेदकृत रूपभेद को भी दिखाते हैं।

६ ४ लिंग, वचन और विभक्ति के ऐसे भेद को आधार बनाकर ही संस्कृत के प्राचीन वैयाकरणों ने विशेषण को 'नाम' वर्ग में स्थान दिया। अव्यय शब्द तो अविकारी होते हैं। अतः उन्हें 'नाम' के क्षेत्र में लेना उचित नहीं है। आख्यात तो भावप्रधान है। दूसरी विशेषता आख्यात की यह है कि वह लिंग से मुक्त है। 'पचति, अगच्छत' आदि तिङन्त क्रिया का कोई लिंग नहीं होता। तिङ प्रत्यय के तीन अर्थ बताये जाते हैं—कर्ता कर्म और भाव। इनमें कर्ता और कर्म कारक हैं। लेकिन करण आदि अन्य कारक तिङन्त क्रिया से अभिहित नहीं होते। अतः तिङ्वाच्य क्रिया या कारक को सत्त्वरूप नहीं कह सकते। इस प्रकार वैदिक परम्परा के वैयाकरणों ने संज्ञा सर्वनाम और विशेषण का एक वर्ग में रखकर उसे 'नाम' शब्द से एक शब्दभेद कहने लगे।

७ अंग्रेजी भाषा के व्याकरण ग्रंथों में चार शब्द-भेद ऐसे बताये जाते हैं जो लिंगादिकृत रूपभेद से मुक्त रहते हैं। इनके नाम हैं—(१) पूर्वसर्ग (preposition) (२) संबंधबोधक—समुच्चयादिबोधक (conjunction) (३) क्रिया-विशेषण (adverb) और (४) विस्मयादिबोधक (interjection)। इन चारों प्रकार के शब्दों को हम 'अव्यय' कह सकते हैं। रूपात्मक दृष्टि से ये चारों शब्द-भेद समान हैं। इन शब्दों में रूपांतर नहीं होता। व्युत्पादक प्रत्यय लगाकर हम चाहें तो शब्दांतर बना सकते हैं। अतः इसके चार भेद मानने के स्थान पर रूप भेद राहित्य के आधार पर इन सबको 'अविकारी शब्द' या 'अव्यय' कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

७ १ प्राचीन परम्परा में अव्ययों के भी दो वर्ग बनाये गये। एक वर्ग का नाम है 'उपसर्ग'। दूसरा वर्ग 'निपात' कहलाता है। दोनों को 'अव्यय' कहना उचित तो है, किन्तु दोनों में मौलिक अंतर है। इस अंतर की उपेक्षा करना संभव नहीं। अत एव वैदिक परंपरा चार शब्दभेदों को स्वीकार करती है। 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'। पतंजलि आदि आचार्य भी कहते हैं— नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।' उपसर्ग और निपात को अलग-अलग मानने की प्रथा बहुत प्राचीन है।

७ २ यह मौलिक अंतर क्या है? उपसर्ग स्वतंत्र अर्थ के वाचक शब्द नहीं हैं। निपात स्वतंत्र अर्थ देते हैं। उपसर्ग शब्दांतर से अन्वित होकर ही अर्थ दे सकते हैं। वैदिक संस्कृत में उपसर्गों को स्वतंत्र शब्द के रूप में मान्यता प्राप्त थी। किन्तु लौकिक संस्कृत में उनकी स्वतंत्रता समाप्त हो गयी। वदांतर संस्कृत में उपसर्ग आबद्ध रूप ही हैं। उनका प्रयोग धातु से अव्यवहित पूर्व ही किया जाता है। पाणिनि के सूत्र इस विषय के प्रमाण हैं—

१ उपसर्गाः क्रियायोगे।

२ ते प्राग् धातोः।

३ छन्दसि परेऽपि।
४ व्यवहिता च।

७.३ 'उपसर्ग' एक पारिभाषिक शब्द है। किसी मूल शब्द से जुड़े हुए पूर्ववर्ती अंश को 'उपसर्ग' कहना संस्कृत व्याकरण की परंपरा के विरुद्ध है। पाणिनि ने केवल बाईस शब्दों का एक 'गण' बनाया है। शब्दों की सूची को वे 'गण' का नाम देते हैं। इस गण का प्रथम शब्द है 'प्र'। अतः वे इसे 'प्रादिगण' कहते हैं। प्रादिगण में पठित शब्द 'निपात' होते हैं। यह पाणिनि की व्यवस्था है। ये शब्द क्रिया युक्त हैं तो 'उपसर्ग' कहलाते हैं। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की दृष्टि में 'निपात' एक व्यापक नाम है और उसीका एक अंश 'उपसर्ग' कहलाता है। इस विषय की चर्चा आगे करेंगे। यहां इतना स्पष्ट करना जरूरी है कि उपसर्ग तो केवल बाईस शब्द ही हैं। 'निपात' के वर्ग में अन्य सभी अव्यय आते हैं। सीमित संख्या में होने के कारण उपसर्गों को निपात से पृथक् करना संभव है।

७.४ उपसर्गों के संबंध में प्राचीन काल से ही विद्वानों में मतभेद भी पाया जाता है। 'निरुक्त' के लेखक यास्क ने इस मतभेद की चर्चा की है। आचार्य शाकटायन का मत था कि उपसर्ग का कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं होता। "न निबद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः।" 'प्र, अव, वि' आदि उपसर्गों का क्या अर्थ है? इन उपसर्गों का कोई निश्चित अर्थ बताना संभव नहीं है। 'प्र' का अर्थ प्रकर्ष या अतिशय कहा जाय, तो 'प्रस्थान' 'प्रसाद' आदि में इसकी उपपत्ति नहीं हो सकती। आगमन, आदेश, आवेश आदि शब्दों में 'आ' का एक अनुगत अर्थ नहीं है। इसी कारण से कुछ शास्त्रकार कहते हैं कि उपसर्ग वाचक नहीं हैं, किंतु द्योतक हैं। दूसरे शब्दों में उनका यही तात्पर्य है कि उपसर्गों का अपना अर्थ नहीं होता, वे तो समभिव्याहृत पद की शक्ति का प्रकाशित करते हैं। यही द्योतकत्व है। समभिव्याहृतपदान्तरनिष्ठशक्त्युद्बोधकत्वं हि द्योतकत्वम्। आङ्पूर्वक 'गम्' धातु का अर्थ है 'आना'। केवल 'गम' का अर्थ है 'जाना'। तो फिर 'आङ्' का अर्थ क्या है? 'राष्ट्रपति' एक समास है। इसमें दो अवयव हैं—राष्ट्र और पति। दोनों का अपना एक निश्चित अर्थ है। अतः इन शब्दों के योग से जो समास बनता है उसका अर्थ निश्चित करने में सहायता मिलती है। किंतु 'आगच्छति' में हम किस आधार पर अर्थविभाजन करें? द्योतकत्ववादी का उत्तर है कि यहां 'गच्छति' का ही यह अर्थ है। 'आ' तात्पर्यग्राहक है, 'गच्छति' के संदर्भगत अर्थविशेष की प्रतीति में सहायक है। फलित तो यही हुआ कि उपसर्ग स्वतंत्रार्थ रहित हैं।

७.५ आचार्य गार्ग्य का मत है कि उपसर्ग भी सार्थक शब्द हैं। जिसका अर्थ नहीं होता, उसे 'शब्द' मानने का कोई औचित्य नहीं है। भाषा में कई प्रकार के ध्वनिसमुदाय संभावित हैं। उनमें कुछ ही सार्थक हैं यानी उनमें अर्थप्रत्यायन

अव्यय एक व्यापक वर्ग का नाम है। उस वर्ग में दो प्रकार के सदस्य हैं—कुछ निपात हैं और कुछ निपातेतर शब्द। पाणिनि ने भी 'निपात' शब्द की ऐसी व्याख्या नहीं की जो व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ पर आधारित हो। उन्होंने तो निपातसंज्ञा का विधान कर दिया—'प्राग्रीश्वरान्निपाताः।' इसी प्रकार दो और संज्ञाओं का—पारिभाषिक शब्दों का—विधान किया है। 'गति' और 'कर्मप्रवचनीय' दो शब्द हैं, जो पूर्वाचार्यपरिगृहीत प्रतीत होते हैं। गति और कर्मप्रवचनीय दोनों ही अव्यय के उपवर्ग हैं। उपसर्ग निपातों का एक उपवर्ग है। प्रादिगण में पठित शब्द निपात तो हैं ही, वे ही क्रियायोग में 'उपसर्ग' कहलाते हैं। चादिगण में पठित शब्द असत्त्ववाची हैं तो 'निपात' संज्ञा के भागी होते हैं। 'चादयोऽसत्त्वे'। किंतु वे उपसर्ग के क्षेत्र में नहीं आते। स्वरादि गण में पठित शब्द अव्यय हैं। किंतु वे 'निपात' संज्ञा के भागी नहीं हैं। इस प्रकार पाणिनि ने गति, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय, निपात और अव्यय की व्याख्या करके 'अव्यय' को व्यापक वर्ग के रूप में स्वीकार किया है।

८.२ इससे पाणिनीय व्याकरण के अध्येता के मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि निपात और अव्यय को पर्याय न मानने का क्या कारण है? स्वरादि शब्दों को निपात मान लेते हैं तो क्या हानि हो रही है? यह शंका भाष्यकार ने स्वयं उठायी। उन्होंने १.१.३६ की व्याख्या में पूछा—"किमर्थं पृथग् ग्रहणं स्वरादीनां क्रियते, न चादिष्वेव पठ्येरन्?" प्रश्नकर्ता का यह आशय है कि स्वरादि शब्दों को भी चादिगण में मिलाकर इन सबको निपात या अव्यय कह दें तो संज्ञाद्वयविधान के क्लेश से बच सकते हैं। अब पहले 'निपात' संज्ञा का विधान किया। पुनः निपातों की 'अव्यय' संज्ञा का विधान करना पड़ रहा है। स्वरादि को निपात मान लेते हैं तो 'चादयोऽसत्त्वे' सूत्र से ही हमारा काम चल सकता है। चादिगण में स्वरादि शब्दों का पाठ करना मात्र काफी है। चादि आकृतिगण है। फिर भी स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए स्वरादि शब्दों का पाठ करने में कोई 'गौरव' का दोष प्रसक्त नहीं होता। तब अव्ययसंज्ञा-विधायक इस सूत्र की आवश्यकता ही नहीं। अथवा 'निपात' संज्ञा को छोड़कर अव्ययसंज्ञा का ही विधान करें। एक ही संज्ञा पर्याप्त है। संज्ञाद्वयविधान का क्लेश निरर्थक है। प्रश्न का यह तात्पर्य बिलकुल स्पष्ट है।

८.३ भाष्यकार ने उत्तर में कहा—'चादीनां वा असत्त्ववचनानां निपातसंज्ञा, स्वरादीनां पुनः सत्त्ववचनानामसत्त्ववचनानां च।' चादि और स्वरादि शब्दों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। चादिगण के शब्द असत्त्ववाची हैं तो निपात कहलाते हैं। किंतु स्वरादि शब्द ऐसे नहीं हैं। ये सत्त्ववाची हों या असत्त्ववाची हों, दोनों स्थितियों में ये अव्यय ही होते हैं। इन शब्दों को चादिगण में स्थान देंगे तो यह कठिनाई पैदा होगी। "स्वः पश्य, स्वरागतः" आदि में 'स्वः' शब्द सत्त्ववाची

है। अत उसको 'निपात' या 'अव्यय' नही मान सकेंगे। इस स्थिति म द्वितीया, पचमी आदि के प्रत्ययो का लोप नही होगा। अत स्वरादि को चादि से पृथक् करके अव्यय सज्ञा का विधान करना पडा।

८४ भाष्यकार ने प्रश्न का आंशिक उत्तर दिया है। स्वरादि शब्दो को सदा 'अव्यय' सज्ञा से युक्त रखने के लिए चादिगण म उनका समावेश नही किया। ठीक है, आप चादि और स्वरादि दो गणो का पाठ अलग-अलग कीजिए। असत्त्व-वाची चादि शब्द निपात हैं। यहा तो 'असत्त्ववाची' विशेषण को जोडने से सत्त्ववाची शब्दों की व्यावृत्ति सिद्ध है। फिर कहिए—'स्वरादि शब्द निपात हैं।" यहां सत्त्ववाची तथा असत्त्ववाची दोनो प्रकार के स्वरादि विवक्षित हैं। निपात को ही अव्यय भी कहते हैं। तो दो सज्ञाओ का विधान किसलिए ? यह प्रश्न तो अनुत्तरित ही रह गया। इसलिए भाष्य म प्रश्न को दुहराया गया—"अथ किमर्थ मुभे सज्ञे क्रियते, न निपातसज्ञैव स्यात ?"

८५ भाष्यकार का उत्तर है कि 'निपात' सज्ञा से ही काम नही चलेगा। एकाच निपात को प्रगह्य कहते हैं—प्रगृह्यसज्ञाप्रकरण मे पाणिनि का सूत्र है—"निपात एकाजनाङ्"। इ इन्द्र। उ उमेश। आ एव नु मन्यसे। इन वाक्यों म इ, उ और आ एकाच निपात हैं। प्रगह्य सज्ञा के कारण प्रकृतिभाव होता है। स्वरादि शब्दो को निपात मानते हैं तो वहा भी जो शब्द एकाच् हैं उन्हें प्रगृह्य कहना होगा। उनम भी प्रकृतिभाव प्राप्त होगा। अत स्वरादि शब्दों को 'निपात' सज्ञा से मुक्त अव्यय ही कहना उचित है। भाष्यकार के शब्द हैं—

'नव वक्तव्यम्। निपात एकाजनाङिति प्रगृह्यसज्ञा उक्ता, सा स्वरादीनामपि एकाचां प्रसज्येत। (क्व इव क्वेव।)"

कयट न स्पष्ट किया है कि क्व म 'अत्' प्रत्यय [illegible] है। वह एकाच् है। प्रगह्य सज्ञा होने पर 'क्वेव' मे सधि न होती। [illegible] 'अम्' प्रत्यय भी एकाच है। 'कम' आदि एकाच कृत्प्रत्यय भी हैं। [illegible] ।
कृन्मेजन्त। इन सूत्रो से 'क्व' आदि शब्दों की 'अव्यय' सज्ञा सिद्ध होती है। किन्तु ये निपात नही हैं। इस अतर की रक्षा के लिए [illegible] का विधान आवश्यक हो जाता है।

८६ भाष्यकार न आगे [illegible]—[illegible]। तच्चाशक्यम्। वक्ष्यत्येतत्—[illegible], [illegible] न्यासेन परिगणन कर्तव्य स्यात्। [illegible]। तात्पर्य यह है कि पाणिनीय व्याकरण म [illegible] और अव्यय का [illegible] सूत्र विन्यास म गौरव-दोष [illegible]। [illegible] सिद्धि के लिए [illegible] अव्यय का एक उपवर्ग मान लिया [illegible] है।

८७ इस विवेचन [illegible] और

निपात को दो भिन्न वर्गों में रखने का औचित्य समाप्त हो गया। वैदिक परम्परा में चार शब्द भेदों की गणना की गयी थी। उपसर्ग और निपात को एक ही वर्ग में शब्द मान लेते हैं तो इस वर्दोक्त चातुर्विध्य का निर्वाह कैसे हो सकता है? नागेश ने कहा है कि यह गोबलीवर्द न्याय से उत्पन्न माना जाता है। संस्कृत में 'गो' शब्द गाय और बैल दोनों का वाचक है। अयं गौः। यहां सर्वनाम से पुल्लिंग का बोध होता है। यहां तो 'गो' का अर्थ बैल है। इयं गौः। सर्वनाम से स्त्रीलिंग का बोध होता है। अतः यहां 'गो' का अर्थ गाय है। इस प्रकार गो शब्द गाय तथा बैल दोनों का वाचक है तो उसके साथ 'बलीवर्द' का ग्रहण किसलिए? बलीवर्द तो 'गो' की अर्थव्याप्ति में अन्तर्भूत ही है। यदि गोशब्द को बलीवर्द का विशेषण मानते हैं, तो भी यहां व्यावर्त्य के अभाव में यह विशेषण व्यर्थ ही है। किंतु गोबलीवर्द न्याय से शब्दभेदों को चार सिद्ध करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। वास्तविकता तो यही है कि पाणिनि ने उपर्युक्त वैदिक परम्परा को अस्वीकार करके दो शब्दभेदों का अपना नया सिद्धांत स्थापित किया है।

§ पाणिनि का मत यह है कि संस्कृत भाषा में शब्दभेद केवल दो ही हैं। एक धातु है और दूसरा प्रातिपदिक है। धातु की परिभाषा दो प्रकार की है— (१) सनाद्यन्ता धातवः। (२) भूवादयो धातवः। सनादि कुछ प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होने वाले शब्द धातु कहलाते हैं। 'कारयति, कामयते, पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति" आदि क्रियापद सनाद्यन्त धातु के उदाहरण हैं। 'भवति, गच्छति, क्रीणाति, वर्तते' आदि क्रियापद भूवादिगणपठित धातुओं के उदाहरण हैं। इसी उद्देश्य से पाणिनि ने एक धातुपाठ का निर्माण किया। धातुभिन्न सार्थक शब्दस्वरूप को पाणिनि ने प्रातिपदिक कहा। धातु, प्रत्यय, प्रत्ययान्त शब्द, पदबंध, उपवाक्य और वाक्य का, इस संज्ञा के विधायक सूत्र में, ग्रहण नहीं होता। अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। समास पदबंधात्मक है, फिर भी उसे 'प्रातिपदिक' के वर्ग में स्थान मिलता है। कृदंत तथा तद्धितांत शब्द भी प्रातिपदिक संज्ञा के भागी हैं। पाणिनि ने इन शब्दों के लिए विशेष सूत्र बनाया—'कृत्तद्धितसमासाश्च।' अतः स्पष्ट है कि धातु और प्रातिपदिक दो ही शब्दभेद हैं।

६ १ तो फिर अव्ययों की—उपसर्गों और निपातों की—क्या स्थिति है? पाणिनि के अनुसार सभी अव्यय प्रातिपदिक के वर्ग में आते हैं। अव्यय को हम प्रातिपदिक का एक उपवर्ग मान सकते हैं। किंतु उन्हें स्वतन्त्र शब्दभेद के रूप में मान्यता देना अपेक्षित नहीं है। अव्ययों को प्रातिपदिक मानने से यह सुविधा होती है कि संस्कृत में 'पद' की परिभाषा दी जा सकती है। पाणिनि ने कहा कि सुबन्त या तिङन्त शब्द ही पद कहलाता है। प्रातिपदिक के बाद सुप् प्रत्यय लगते हैं और धातु के बाद तिङ् यानी आख्यात प्रत्यय लगते हैं। 'सुप्तिङन्तं पदम्।' सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्। इस व्यवस्था की उपपत्ति के लिए पाणिनि ने अव्यय का

भी प्रातिपदिक माना।

६ २ प्रातिपदिक के बाद सुप प्रत्यय लगते है। तो अव्यय भी सुबन्त होते हैं। किंतु किसी अव्यय म सुप प्रत्यय दिखाई नही देता। "वशस्य, पर्णानि, भूमौ, पतितानि' आदि शब्द सुबन्त हैं। इन शब्दों के अत म स्य, इ औ और इ—ये प्रत्यय दिखाई देते हैं। किंतु 'अहो सह बिना अधस्तात, उपरि" आदि अव्ययो म कोई प्रत्यय नही है। फिर भी इनको सुबन्त कैसे मानें? पाणिनि ने बताया कि इन शब्दों म भी कोई 'सुप्' प्रत्यय लगा है, किंतु उसका लोप हो जाने के कारण दिखाई नही दता। अदशन लोप। प्रत्यय के अभाव मे और लोप म मौलिक अतर है। प्रत्ययरहित प्रकृतिमात्र को हम 'प्रातिपदिक' कहते हैं। प्रत्यययुक्त होने के बाद ही यह 'पद' सज्ञा का भागी बनता है। किंतु प्रत्यय का लोप हो जाने के बाद भी शब्द को प्रत्ययान्त मानने म कोई बाधा नहीं है। प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम। जहा 'लुक्' आदि पारिभाषिक शब्दो में लोप का विधान किया जाता है, वहा भी प्रत्ययलक्षण का यह नियम प्रवृत्त होता है। "न लुमताऽङ्गस्य।" यह निषेध अगाधिकारविहित या अगाश्रित कार्यों के लिए है। पदसज्ञा तो प्रत्ययान्त शब्द की होती है केवल अग का काय नहीं है। इसलिए प्रत्यय का लोप होने पर भी प्रत्ययान्तरवहेतुक पदसज्ञा की प्रवृत्ति निर्बाध है। प्रत्यय के अभाव म केवल प्रातिपदिक को पद नही कह सकते, किंतु लुप्तप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को पद कह सकते हैं। इस अतर को ध्यान मे रखकर पाणिनि ने कहा कि अव्यय के बाद होनेवाले 'सुप' प्रत्यय का लोप हो जाता है—"अव्ययादाप्सुप।' 'आप' स्त्रीप्रत्यय है। स्त्रीप्रत्यय का भी लोप विहित है। अत अव्यय को प्रातिपदिक मानना व्याकरण की दृष्टि से उचित है।

६ ३ इस तरह लुप्त प्रत्यय की कल्पना करना कुछ शब्दो की सिद्धि के लिए अनिवाय है। हिंदी म भी मारना, पीटना दौडना, भागना, खेलना, कूदना आदि क्रियाएं हैं। किंतु मार पीट भाग दौड, खेल कूद आदि सज्ञाएं हैं। क्रिया को ही सज्ञा के रूप मे प्रयुक्त कर रहे हैं। इसकी उपपत्ति बताने के लिए शून्य प्रत्यय की कल्पना करते हैं। मार+प्रत्यय=मार। प्रत्यय का स्थान रिक्त है। दूसरे शब्दों मे कह तो प्रत्यय का लोप हो गया। इस कल्पना के आधार पर ऐसे शब्दों को 'कृदन्त' कह सकते हैं। सस्कृत मे पाणिनि ने यही किया है। 'अग्रणी, ग्रामणी' आदि प्रातिपदिक हैं। यहा 'नी' धातु का रूप स्पष्ट है। इसी धातु मे कृत् प्रत्यय जोडने से नेता, नायक, नय, नीति आदि शब्द बनते हैं। उन शब्दों मे तृच्, ण्वुल् अच और क्तिन आदि प्रत्यय वतमान हैं। किंतु अग्रणी आदि शब्दों मे कोई प्रत्यय वतमान या श्रूयमाण नही है। तो फिर यह कृदन्त नही है, इसे प्रातिपदिक कैसे कह सकते हैं? पाणिनि का उत्तर है कि यहा भी कृत्प्रत्यय है, उसका लोप हो गया है, अत यह शब्द लुप्तकृदन्त है। इसी तरह राजा, रमा, कुमारी, विद्वान्

निपात को दो भिन्न वर्गों म रखने का औचित्य समाप्त हो गया। य
म चार शब्द भेदा की गणना की गयी थी। उपसग और निपात
य शब्द मान लेते हैं तो इस वदोक्त चातुर्विध्य का निर्वाह कैसे
नागेश ने कहा है कि यह गोबलीवद याय से उत्पन्न माना जाता
'गो' शब्द गाय और बल दोनो का वाचक है। अय गो। यहां सब
का बोध होता है। यहां तो गो' का अथ बैल है। इम गो। सब
का बोध होता है। अत यहां गो' का अथ गाय है। इस प्रकार गो
बैल दोनो का वाचक है तो उसके साथ 'बलीवद का ग्रहण कि
तो 'गो' की अयन्याति के अतभूत ही है। यदि गोशब्द को ब
मानते हैं, तो भी यहा व्यापत्य के अभाव म यह विशेषण
गोबलीवद याय से शब्दभेदो को चार सिद्ध करना तरसगत
वास्तविकता तो यही है कि पाणिनि न उपयुक्त वैदिक परम्प
करके दो शब्दभेदा का अपना नया सिद्धांत स्थापित किया है।

९ पाणिनि का मत यह है कि सस्कृत भाषा म शब्दभे
एक धातु है और दूसरा प्रातिपदिक है। धातु की परिभाषा
(१) सनाद्यन्ता धातव। (२) भूवादयो धातव। सनादि
प्रत्ययो के योग से निष्पन्न होने वाले शब्द धातु कहलाते हैं।
पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति'' आदि क्रियापद सनाद्यन्त धातु के उ
गच्छति, क्रीणाति, वतत' आदि क्रियापद भूवादिगणपठि
हैं। इसी उद्देश्य से पाणिनि ने एक धातुपाठ का निर्माण कि
शब्दस्वरूप को पाणिनि ने प्रातिपदिक कहा। धातु प्रत्यय,
उपवाक्य और वाक्य का, इस सज्ञा के विधायक सूत्र म,
वदधातुरप्रत्यय प्रातिपादिकम्। समास पदबधात्मक है, f
के वग म स्थान मिलता है। कृदत तथा तद्धितात शब्द
भागी है। पाणिनि ने इन शब्दो के लिए विशेष सूत्र बन
च।'' अत स्पष्ट है कि धातु और प्रातिपदिक दो ही शब्द

९ १ तो फिर अव्ययो की — उपसर्गों और निप
पाणिनि के अनुसार सभी अव्यय प्रातिपदिक के वग
प्रातिपदिक का एक उपवग मान सकते हैं। किंतु उन्हे
मा यता देना अपेक्षित नहीं है। अव्ययो का प्रातिपदिक
है कि सस्कृत म पद की परिभाषा दी जा सकती है,
या तिङन्त शब्द ही पद कहलाता है। प्रातिपदिक के
धातु के बाद तिङ यानी आख्यात प्रत्यय लगते हैं।
तिङन्त च पदसज्ञ स्यात। इस व्यवस्था की उपपत्ति

आदि शब्दो को 'पद' कहते हैं। ये सभी शब्द प्रथमा एकवचन में हैं। एकवचन का प्रत्यय 'सु' इन शब्दों में लुप्त है। राम, कवि, गुरु, गो आदि शब्दो में 'सु' प्रत्यय का सकार ही विसर्ग के रूप में श्रूयमाण रहता है। राजा आदि शब्द लुप्त प्रत्ययान्त होने के कारण 'पद' बनते हैं। अत शून्यप्रत्यय की कल्पना व्याकरण में अनिवार्य है। इसी लुप्त प्रत्यय के आधार पर अव्यय को भी 'पद' कहना सभव है।

६४ 'सुप्' और 'तिङ्' दो प्रकार के समापक प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययो के बाद और कोई प्रत्यय नहीं आ सकता। इसलिए 'प्रकृति' (stem) भी दो प्रकार की बनती है। सुप प्रत्यय की प्रकृति प्रातिपदिक है और तिङ प्रत्यय की प्रकृति धातु। पाणिनि के अनुसार ये दो ही शब्दभेद स्वीकार योग्य हैं।" "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" "चत्वारि शृगा त्रयो अस्य पादा" इत्यादि वाक्यो से चार प्रकार के पदो की व्यवस्था सिद्ध होती है। किंतु उन्हें 'शब्दभेद' (Parts of speech) कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार पाणिनि ने रूपविज्ञान (Morphology) के आधार पर धातु और प्रातिपदिक के नाम से दो शब्दभेदो का सिद्धान्त स्थापित किया।

□ □

वी० कृष्णस्वामी आयगार

इस ग्रंथ के लेखक डॉ० वी० कृष्णस्वामी आयगार कर्णाटक निवासी हैं। इनका जन्म १६-४-२४ को बंगलौर में हुआ।

बंगलौर की श्रीचामराजेंद्र संस्कृत विद्या-शाला में शिक्षा प्राप्त की। व्याकरण और साहित्य में विशेष योग्यता पायी, साथ ही कन्नड और हिंदी का भी अध्ययन किया। हिन्दी और संस्कृत में एम० ए० करने के बाद हिंदी और कन्नड के अलंकार ग्रंथों पर शोधकार्य करके पीएच० डी० की उपाधि पायी।

सन १९६५ तक बंगलौर के सेंट जोसेफ कॉलेज में हिंदी और संस्कृत के अध्यापक रहे। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा (मद्रास) के स्नातकोत्तर विभाग में १९६७ तक अध्यापन किया। १९६८ से आगरा में केंद्रीय हिंदी संस्थान में अध्यापन कर रहे हैं।